नयी कविता (एक)

सैद्धांतिक पक्ष

भूमिका

नयी कविता के आठ खण्डों को तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना इसलिए बनायी गयी कि उसके सभी पक्ष काव्य मनीषियों के समक्ष उद्घाटित हो सकें। मेरे साथ पहले दो अंकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी सहयोगी के रूप में रहे, फिर विजयदेव नारायण साही ने अद्वितीय सहयोग दिया। कविता के संदर्भ में उनकी समझ बहुत पैनी थी। वे एक ओर उर्दू-फ़ारसी के ज्ञाता थे और दूसरी ओर अंग्रेजी विभाग के प्राध्यापक के रूप में अनुभव की गरिमा रखते थे। अंग्रेजी विभाग देव साहब तथा दस्तूर साहब की विशेषज्ञता से महिमा मण्डित था। साही जी से पहले मैं बी0ए0 में उस विभाग का अनुभव कर चुका था। फिराक साहब और साही साहब हिन्दी-उर्दू कविता के लिए अंग्रेजी से ज्यादा चिन्तित रहते थे। साही जी की पत्नी श्रीमती कंचनलता साही भी उसी विभाग में कार्यरत थीं। नयी कविता के संपादक के रूप् में जब मैंने उन्हें अपने सहयोगी के रूप में चुना तो बहुतों को आश्चर्य हुआ। हमारी शतरंज की बाजी साहित्य-चिन्तन की प्रेरणा देती थी जिसमें कंचन जी का सुस्वादु योगदान था। आज मैं इन लोगों के दिवंगत हो जाने से इतना रंग खो चुका हूँ कि क्या कहूँ?

परिमल सन’44 से भारती, गोपेश तथा साहित्यकार संसद से महादेवी वर्मा के आशीर्वाद से जुड़ चुका था। दिनकर जी की ओजस्वी कविता मैंने पहली बार संसद में ही सुनी और हिन्दी के वरिष्ठ कवि और साहित्यकार भी हमें वहीं से सुलभ हुए। ताकुला, नैनीताल में मराठी कवि मामा वरेरकर तथा बंगाली कवि बनफूल वहीं हमें प्रेरक रूप में मिले।अन्य साहित्यकार हमें वहीं इसी वातावरण में सुलभ हुए। चित्रकला की ओर मेरी प्रवृत्ति ताकुला से ही विशेष रूप से जुड़ी। अल्मोड़ा में जाकर मैंने पन्तजी की जीवन-भूमि कौसानीपुर देखा और प्रणाम किया। नयी कविता के पहले अंक में पंत जी ने हमें आशीर्वाद दिया जो निरन्तर फलित होता रहा। पहले अंक के प्रकाशन से हिन्दी क्षेत्र में एक भूकम्प-सा आ गया क्योंकि किंचित् कविता के रूप में रघुवीर सहाय, केशवचन्द्र वर्मा, प्रभाकर माचवे, मनोहरश्याम जोशी एवं भारत भूषण अग्रवाल आदि का सहयोग इतना बहुचर्चित हुआ कि वह भूला नहीं जा सकता।

परिचय क्रम में विजयदेव नारायण साही का लक्ष्मीकांत वर्मा के लिए तथा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना पर अज्ञेय जी का लेख और बालकृष्ण राव ने कुँवर नारायण के लिए। लगभग 50 पृष्ठों में यह सामग्री बहुचर्चित हुई। इसी तरह गिरिजाकुमार माथुर को प्रथम खण्ड में हमने एक वरिष्ठ कवि के रूप में प्रस्तुत किया। मराठी के लिए माचवेजी, बंगाली के लिए नेमिचंद्र जैन तथा पंजाबी के लिए

देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम अनुवाद-क्रम में अविस्मरणीय हैं। नयी कविता के विषय में मेरा लेख 'नयी कविता नयी अभिरूचि' के रूप में विचार केन्द्रित हुआ तथा नयी कविता को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया गया। मुझे भारतीजी से निरन्तर प्रेरणा मिलती रही, किन्तु आगे उन्होंने 'निकष' निकालकर दूसरी दिशा अपनाने में नया मार्ग अपनाया। परिमल के सब लोग एक साथ जुड़कर इस अभियान को चला रहे थे। 'निकष' का जवाब 'संकेत' निकालकर उपेन्द्रनाथ अश्क जी ने प्रगतिशीलता की झंडेबरदारी स्वीकारी थी। इलाहाबाद विचारधाराओं का ही नहीं संघर्ष का केन्द्र भी बन गया। दिल्ली में इसकी अनुगूँज लेखक सम्मेलन में इतनी सुनाई दी कि कोई बोल नहीं सका।

परिचर्चा (खण्ड-पाँच और छः) में 'नयी कविता की वर्तमान स्थिति' पर डॉ. देवराज, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ.शम्भुनाथ सिंह,श्री गिरिजाकुमार माथुर का लेख भी महत्वपूर्ण रहा। सम्पादकीय में 'आचार्य श्री की कृपा-दृष्टि' (खण्ड-चार) और 'नये कवि का व्यक्तित्व और अज्ञेय जी' (खण्ड-पाँच और छः) पर मेरा लेख तथा विशेष में भारती का 'अंधा युग' और 'कनुप्रिया' कविता का अंश भी उत्साहवर्धक रहा।

– जगदीश गुप्त

❖

नयी कविता: नयी अभिरूचि

साहित्य और कला के क्षेत्र में समस्त सर्जन व्यक्तिगत प्रयत्न से ही प्रतिफलित होता है, किन्तु किसी भी नवीन मौलिक रचनात्मक प्रयत्न का उद्देश्य मूलतः नितान्त निरपेक्ष एवं सीमित आत्मतोष ही नहीं होता-न ही हो सकता। हर रचनात्मक प्रयत्न के पीछे आत्माभिव्यक्ति के साथ आत्मविस्तार की भावना भी निहित रहती है, जो अन्यसापेक्ष है। अभिव्यक्ति से उपलब्ध तोष अनुभूति से 'मुक्ति' को तोष है और विस्तार की भावना से अर्जित तोष 'प्राप्ति' द्योतक है; अतः दोनों में सूक्ष्म भेद है। यह दूसरी बात है कि अन्ततः हर तोष आत्मतोष ही है, पर निरपेक्षता और सापेक्षता का अन्तर भुलाया नहीं जा सकता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रारम्भ में ही कालिदास ने इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया है कि साहित्य और कला के क्षेत्र में किया हुआ कोई 'प्रयोग' प्रयोक्ता के शिक्षित अथवा आत्मचेता होने पर भी पूर्ण परितोष के लिए एक विशिष्ट भावक-वर्ग की अपेक्षा रखता हैः

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।

उन सम्पूर्ण व्यक्तियों को, जो कविता से अपना सम्पर्क स्थापित करते हैं, भावक नहीं कहा जा सकता है और न सभी भावकों को समान स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है। रसिक और अरसिक के भेद की ओर प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने भी निर्देश किया है। अब प्रश्न यह कि नयी कविता का भावक-वर्ग कौन-सा और कैसा है। हिन्दी कविता को विकास की नयी दिशाओं में ले जाने वाला कवि किस विवेकशील प्रबुद्धचेता भावक को लक्ष्य करके अपनी बात कहता है या कहने का साहस करता है। निश्चय ही वह किसी भी कवि की तरह उनको लक्षित नहीं करता जो संवेदनशीलता से हीन, अरसिक तथा अक्षम होते हैं। यह अक्षमता अज्ञान का परिणाम भी हो सकती है। नया कवि उस रूढ़िवादी को भी अपना लक्ष्य नहीं बनाता जो हर प्राचीन के प्रति आकर्षण और हर नवीन के प्रति विकर्षण के भाव से परिचालित होता है। ऐसे व्यक्तियों में एक जड़ता निहित रहती है जो उनकी आन्तरिक अप्रगति की द्योतक होती है। इलियट ने काव्य रूचि के विकास की चर्चा करते हुए निर्भीकतापूर्वक इनका स्मरण किया है।

I dare say many people never advance; so that such taste for poetry as they retain in later life is only a sentimental memory of the pleasures of youth, and is probably entwined with all our other sentimental retrospective feelings. (Selected prose, Page 49)

रूढ़िवादियों की तरह पूर्वाग्रही लोगों का भी एक वर्ग होता है जो कवि के द्वारा सदैव अपने गलत या सही अभिसप्त की पूर्ति चाहते हैं। किसी सामान्य उद्देश्य से ऊपर वे कविता की कोई सार्थकता ही स्वीकार नहीं करते। कवि के रूप में किये गये हर प्रयत्न को वे व्यर्थ और हीनतर तथा प्रचारक के रूप में किये गये हर प्रयास को सार्थक और श्रेष्ठतर समझते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में ऐसे अपवादी 'निरंकुश' लोगों की ओर तीव्र कटाक्ष किया है।

कविता का आस्वादन कई सतहों पर हो सकता है-उसकी वस्तु, उसकी शैली, उसके स्वर-सामान्जस्य अथवा अर्थ-संगति आदि किसी अंश विशेष को दृष्टि में रखकर। इस प्रकार आस्वादकों का एक स्तर ऐसा भी होता है जहाँ वे कविता को पूर्ण रूप में न पाकर केवल अंशग्राही बनकर रह जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते हैं। नयी कविता कदाचित् ऐसे व्यक्तियों के लिए भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी करके लिखी जा रही हैं जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं;एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति परम्परागत वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती हैं तो सम्पूर्ण रूप में नहीं, दूसरी ओर जो नयी दिशाएँ खोजने में संलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील

होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की आशंसा करने में संकोच नहीं करते। प्राचीन आभाव और नवीन आविर्भाव के बीच विवेक करते हुए ऐसे ही व्यक्ति कविता के क्षेत्र में किये गये नवीन प्रयत्नों का सम्यक मूल्यांकन कर सकते हैं। नये कवि के लक्ष्य वे भी होते हैं जो पूर्ण रूप में उसके समानधर्मा न होकर भी उसकी ईमानदारी पर सन्देह नहीं करते, फतवे नहीं देते। बहुत अंशों में नयी कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावक-वर्ग पर आश्रित रहती है। भले ही यह वर्ग संख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्व संख्या से नहीं, उस स्थिति से आँका जाता है जिस तक अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ यह पहुँचा होता है। इसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। पाश्चात्य विवेचकों ने भी ऐसे एक वर्ग की स्थिति को और उसकी शक्ति को निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया है।

Where the mind is still free, neither complacent nor 'shackled to the past nor servile to the discipline of the future, there will poetry flourish.(New Anthology of Modern Poetry (introduction), page XLII.)

कलाकृति पर अपना मत देने या रखने वाले उपर्युक्त विभिन्न वर्ग उसी तरह साहित्य जगत् में एक-दूसरे के समानान्तर स्थिति रहते हैं जिस प्रकार मानव-समाज में सभ्यता के विकास के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करने वाले आदिवासियों से लेकर वर्तमान यान्त्रिक एवं वैज्ञानिक प्रगति से सम्पन्न जनसमूह एक साथ रहते हैं। नयी अभिरूचि के जन्म का अर्थ पुरानी अभिरूचि या अभिरूचियों का पूर्णतया नाश नहीं है। वह तो पुराने संस्कारों के बीच ही संघर्षशील होकर नवीन संस्कारों की संस्थापना और संवहन करती हुई अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है।

❖

नयी कविता: नया संतुलन

'ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छंदों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे, कोई ग्यारह पदे! कोई तेरह पदे कसी की चार सतरें गज-गजभर लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परामर्श करने वाले। इनका मूलमन्त्र है— हम चुनां दीगरे नेस्त। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।'

'यह परिवर्तन और क्रान्ति का युग है। सब विषयों में नित्य नये परिर्वतन हो रहे हैं, कविता में क्रान्ति हो रही है और बड़े वेग से हो रही है। हिन्दी कविता का तो एकदम कायाकल्प हो रहा है, दूसरी

भाषाओं की कविताओं में भी परिवर्तन हुआ है, पर हिन्दी में परिर्वतन का ढंग कुछ निराला ही है। मैं परिवर्तन का विरोधी नहीं हूँ, पर परिर्वतन सोच समझ कर करना चाहिये, मनमाने प्रकार से नहीं, मेरे इस निवेदन का यही तात्पर्य है-हिन्दी की नवीन कविता में भाषा, भाव, शैली सभी कुछ नया है-अपरिचत है। वह कुछ कह रहे हैं, यह तो सुन पड़ता है, पर क्या कह रहे हैं, यह समझ में नहीं आता।'

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से पहला आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'आजकल की कविता' नामक निबन्ध से उद्धृत है और दूसरा पंडित पद्मसिंह शर्मा के उस भाषण का एक अंश है जो उन्होंने सन् 1928 में मुजफ्फरपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से दिया था। यह उस समय की प्रतिक्रिया को व्यक्त करते है जब छायावाद के रूप में हिन्दी कविता प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं से विद्रोह करती हुई एक नया मोड़ ले रही थी। कविता आज फिर नयी दिशा में मुड़ रही है। प्रतिक्रिया पुनः प्रारंभ हो गयी है। ठीक उसी तरह, लगभग उन्हीं शब्दों में वैसे ही तर्कों का आधार लेकर, किन्तु अधिक खीझ, अधिक आक्रोश के साथ। दोनों स्थितियों की तुलना करने पर लगता है जैसे इतिहास का चक्र शताब्दी के चतुर्थांश में ही वृत्त को पूरा करता हुआ अपनी धुरी पर तीव्रता से घूम गया हो। कटु आरोपों और अनर्गल आलोचनाओं के विरूद्ध उस समय का विद्रोह नतशीश नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा। नयी कविता का भविष्य, यदि वह वास्तव में नयी है और कविता है, तो हर युग में उज्जवल रहा है, आगे भी रहेगा। मेरी इस सत्य पर अडिग आस्था है।

'नयी कविता' के प्रथम अंक की काफी गहरी प्रतिक्रिया हुई। आलोचनाओं पर आलोचनाएँ प्रकाशित होती गयी, इतनी कि यदि संकलित कर दी जायें तो एक पूरा ग्रन्थ बन जाये। पिछले अंक में मैंने पाठकों के कुछ वर्ग निर्धारित किये थे, आलोचनाएँ पढ़कर उनके अतिरिक्त और भी कई नये वर्ग नजर आये। एक वर्ग ने हास्य-व्यंग्य की अंगभीर 'किंचित कविता' को वास्तव में गंभीर समझ कर अद्भुत परिणाम निकाल, विलक्षण विवेक शक्ति का परिचय दिया। दूसरे वर्ग ने दलगत राजनीति के आग्रह से प्रेरित होकर 'नयी कविता' के सहयोगी प्रयत्न को भयंकर 'साम्राज्यवादी हथकंडा' घोषित किया। जो कुछ नहीं था उसे सिद्ध कर दिखाने का उनका महान् कौशल सराहनीय है। व्यक्तिगत कारणों से क्षुब्ध एक अन्य वर्ग में कुछ व्यक्ति ऐसे मिले, जिन्होंने अप्रत्याशित रूप से कारणों से निराधार तर्कों की सृष्टि कर, कौशल पूर्वक नयी कविता के सम्पादन और स्वरूप दोनों को लांक्षित करना चाहा। दोष-दर्शन में सहस्त्राक्ष हो उठने वाला वर्ग तो सबसे अधिक प्रमुख होकर सामने आया और कुछ नहीं तो कम से कम इन सब के कारण 'नयी कविता' की बहुत सी प्रतियाँ बिक गयीं। अतः ऐसे अप्रत्याशित सहयोग एवं उपकार के लिए भी यदि मैं आभार प्रकट न करूँ तो निश्चय ही अकृतज्ञता होगी। अपने इस पवित्र कर्तव्य का पालन करने के बाद ही मैं अपने को ऐसी स्थिति में पाता हूँ कि नयी कविता के सम्बन्ध की कतिपय मौलिक समस्याओं की ओर संकेत कर सकूँ।

मैं कविता को मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप मानता हूँ। उसे मनुष्य मात्र की मातृभाषा कहा गया है। जीवन के गहन से गहन पहलुओं तक उसकी व्याप्ति है। इसीलिए जीवन की अतल गहराईयों में होने वाले परिवर्तनों की छाया साहित्य में सबसे पहले कविता पर ही पड़ती है। युग-मानस के सूक्ष्मतम आवर्तनों-विवर्तनों का परिचय शब्दों, अर्थों, भावों और विचारों के नये संतुलन से मिलता है। कविता ऐसे प्रत्येक संतुलन के साथ नयी होती रही है आज जो संतुलन घटित हो रहा है वह अब तक होने वाले संतुलनों की अपेक्षा अधिक तलस्पर्शी, अधिक मौलिक हैं, क्योंकि मानव व्यक्तित्व को इतना अधिक महत्व किसी युग में नहीं मिला और न उसके आगे मानवता के सामूहिक निर्माण और विनाश का प्रश्न ही इससे अधिक उग्र होकर आया। किसी बाह्य शक्ति के स्थान पर अपना भाग्य विधाता वह स्वयं है और उसके निर्णयों के साथ समस्त मानवता का भविष्य जुड़ा हुआ है, इस बोध ने उसे नया व्यक्तित्व प्रदान किया है और मन के सूक्ष्म स्तरों तक ले जाकर कादाचित् इसी बोध ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दूरी को भी बढ़ा दिया है। व्यक्ति की इस महत्ता के साथ-साथ एक व्यापक सामाजिक दायित्व का उदय इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता कही जा सकती है। व्यक्तित्व का घेरा इतना अधिक फैल गया है कि सम्पूर्ण मानवता के क्षय और जय की समस्या उसके अपने जीवन और मरण की समस्या बन गयी है फलतः आज के नये साहित्य का यह विचित्र विरोधाभास है कि यह अनुभूति में व्यक्तिनिष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिक होता जा रहा है। सामाजिकता जब कृत्रिम रूप से कवि के व्यक्तित्व पर आरोपित की जाती है तो मायकाव्स्की की तरह वह आत्महत्या कर लेता है। नयी दिशा में चलने वाला आज का एक तरूण कवि भी कुछ ऐसा ही सोचता है- 'बिक जाने के प्रथम मरण की गोद वरूँगा।' अब कवि न राजाश्रय प्राप्ति के लिए 'आखर' जोड़ता है और न किसी धार्मिक सम्प्रदाय के आगे आत्मसमर्पण करके ईश्वर, गुरू या देवता की कृपा अर्जित करने के लिए 'पद' रचता है। राजनैतिक मतवादों के पारस्परिक संघर्ष की छाया उसके मानस पर अवश्य पड़ती हैं, किन्तु आज काव्य-प्रेरणा का मूल-स्त्रोत उसकी अपनी चेतना है, जिसका समर्पण यदि होता है तो जीवन के सहज सत्य के आगे ही होता है। कविता इसीलिए रूढ़िगत न होकर व्यक्तिगत हो गयी है किन्तु जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, कवि का व्यक्तित्व स्वयं विस्तृत एवं समाजोन्मुख होता जा रहा है अतः कविता में भी वैसे ही संस्कार व्यक्त हो रहे हैं। परिवर्तित स्थिति और मानव व्यक्तित्व के महत्व को आज का जागरूक कवि अपने भीतर बराबर अनुभव करता है। स्टीफेन स्पेंडर की कविता 'ट्रायल ऑफ ए जज' में उच्चतर नैतिकता का आग्रह, फ़ैज की नज़्म 'मुझसे पहले सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँग' में अतिरिक्त दायित्व के प्रति सजगता और अज्ञेय की कविता 'आज तुम शब्द न दो न दो' में दृढ़ संकल्प शक्ति मिलती है। इन और इन जैसी अन्य अनेक कविताओं से देश, विदेश में सर्वत्र काव्य के बदलते हुए स्वर को पहचाना जा सकता है। शायद ही किसी युग में कवि इतना चिंता-ग्रस्त रहा हो।

जीवन के शोभन-अशोभन, शिव-अशिव सभी पक्षों तक उसकी दृष्टि जाती है इसीलिए आज कविता उसके लिए मात्र आनंद की वस्तु न होकर और भी कुछ है। नयी कविता में क्षोभ व्यंग्य और कर्कशता को देखकर कुछ काव्य रसिक उदास हो जाते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि जब जीवन के अंग होने के कारण काव्य में जुगुप्सा, शोक, क्रोध और भय आदि विकर्षणात्मक भाव भी ग्राह्य हो सकते है और रस की सृष्टि कर सकते हैं तो क्षोभ आदि को ही क्यों अग्राह्य माना जाये। मराठी के कुछ रस विवेचकों ने 'प्रक्षोभ रस' की कल्पना की भी है। वस्तुतः इस तरह से सोचने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है जो प्रायः कम मिलता है।

चेतना की परिधि के विस्तार तथ कवि-व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातन्त्र्य का परिणाम काव्य के रूप पर पड़ना अनिवार्य है और उचित भी, क्योंकि रूपविधान सदा युग विशेष की मनः स्थिति को प्रतिबिम्बित करता आया है। वैदिक साहित्य के छंद संस्कृत के महाकाव्यकालीन छंदों की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त और अधिक ऋजु प्रकृति के थे। सामंती संस्कारों और स्मृतियों की व्यवस्था से पग-पग पर नियोजित परवर्ती समाज के छंद, गण-विधान से युक्त अतिव्यवस्थित वृत्तों के रूप में सम्मुख आये। संस्कृत वृत्तों में जो तुकान्त का आभाव मिलता है वह आज की सी स्वतन्त्रता की मनोवृत्ति का परिणाम नहीं था, क्योंकि जहाँ अक्षर-अक्षर का गुरूता-लघुता-मूलक क्रम तक निर्धारित हो वहाँ तुक का होना न होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका यही तात्पर्य हो सकता है कि उस युग में जीवन किसी एक छोर पर न बँध कर सम्पूर्ण रूप में बँधा हुआ था। प्राकृत-अपभ्रंश के साहित्य में लोकव्यापी जीवन की तरलता से जिन छंदों की सृष्टि हुई उनमें संगीतात्मकता एवं समवेत-गायन की प्रवृत्ति से उत्पन्न गेयता विशेष परिलक्षित होती है इसीलिए उनमें तुक का विधान है। अन्य अंशों में वे लोक जीवन की प्रवहमानता को सहज अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। आधुनिक युग तक कुछ परिर्वतनों के साथ मुख्यतया यही मात्रिक-गेय रूपविधान चलता रहा। अब नवीन परिस्थितियों के आक्षेप से वह झूठा पड़ने लगा है। परंपरागत अनुर्वर तथा कुंठित माध्यम से नवीन अनुभूतियों को अधिक समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए कविता से विभिन्न प्रकार के जटिल बन्धन क्रमशः दूर होते जा रहे हैं। आभ्यंतरिक रूप से जब कवि भाव-स्वातन्त्र्य का अनुभव करने लगा है तो बाह्यतः इन कृत्रिम बन्धनों को वह आवश्यकता से अधिक प्रश्रय नहीं दे सकता। पंतजी ने एक युग-द्रष्टा की तरह छायावाद काल में ही 'युगवाणी' के 'आयस' बहने की घोषणा कर दी थी, तब जब कि 'छंद के बंध' और 'प्रास' के रजतपाश' पूरी तरह खुल भी नहीं पाये थे। आज खुलने के स्थान पर वे चरमराकर टूट रहे हैं। छंदों की नपी तुली एकस्वरता(Monotony)के विपरीत विविधता और विषमता यहाँ तक कि विश्रृंखलता भी आने लगी हैं। संगीतात्मकता और गेयता के प्रति भी एक प्रकार की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी है, यद्यपि 'Four QuartetsFourQuartets' और 'तार सप्तक' का रूपक

संगीत के क्षेत्र से ही लिया गया है। यह स्थिति विश्वव्यापी है इसीलिए इसे युग के मानसिक परिर्वतन से ही सम्बद्ध करना होगा। नयी कविता का रूप-विधान भी नयी मनःस्थिति के अनुरूप नया संतुलन खोजता हुआ विकसित हो रहा है। जिस प्रकार आज के जीवन में अनावश्यक बंधनों एवं विधिनिषेधों के प्रति अरूचि दिखाई देता है उसी प्रकार छंद-विधान में भी स्वतन्त्रता का आग्रह अधिकाधिक व्यक्त हो रहा है। कथ्य की शक्तिमत्ता और महत्ता के साथ कथन की यथासंभव अकृत्रिमता इस युग की कविता की एक विशेषता कही जा सकती है। कृत्रिमता से मुक्ति पाने की वृत्ति ने ही कदाचित् नयी कविता को कुछ अंशों में गद्य के समीप ला दिया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि-कर्म सरल हो गया है। वस्तुतः अकृत्रिम-रूप-विधान अधिक कलात्मक दायित्व की अपेक्षा रखता है क्योंकि उसमें मुख्य भाव-वस्तु की कमजोरी को आच्छादित करने के उपकरण कम से कम होते हैं। कदाचित् इसीलिए कहा गया है 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। नयी कविता के प्रसंग में संस्कृत का उद्धरण देखकर भड़कने वाले कृपया क्षमा करें)। यहाँ यह भ्रान्ति किसी को नहीं होनी चाहिए कि नये कवि, कविता से पद्य का बहिष्कार करके उसे गद्य बनाना चाहते हैं। वास्तव में कविता गद्य और पद्य दोनों से ऊपर हैं। जिस तरह गद्य और कविता में अंतर हैं उसी प्रकार पद्य और कविता में भी भेद है। पद्य में लिखा हुआ सभी कुछ कविता नहीं हो जाता। बी0 बी0 सी0 से प्रसारित और 'एनकाउंटर' में प्रकाशित एक परिसंवाद में जेम्स स्टीफेन्स और डिलेन टॉमस जैसे पाश्चात्य कवियों ने भी इस तथ्य की ओर संकेत है। यदि कहा जाये कि पद्य कविता की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी रूढ़ि है तो अत्युक्ति न होगी। निराला जी ने इसे झकझोर दिया था। नयी कविता इसे तोड़ कर आगे बढ़ रही है इसीलिए इतना हाहाकार मच रहा है। वह पुरातन राजसी जड़ाऊ रूप-सज्जा को छोड़कर अब सहज वेश में प्रकट हो रही है। पद्य की आवश्यकताएँ और मर्यादाएँ भावों के अनुरूप ही हों यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक कवि इस सत्य से परिचित है कि जहाँ छंद-प्रवाह तन्मयता उत्पन्न करके भावों को सँवारता है, अप्रत्याशित उपलब्धियाँ कराता है वहाँ बहुत से शब्द छंद-निर्वाह, पाद-पूर्ति और तुकान्त के लिए भी लाने पड़ते है। छंद में ढालते-ढालते भाव का रूप कुछ का कुछ हो जाता है। पद्य-रचना एक कौशल है जिसका प्रदर्शन मध्ययुगीन कवियों के लिए गौरव की बात थी, किन्तु आज वह कोई इतनी बड़ी वस्तु नहीं रही कि उसके लिए मूल कथ्य को विकृत हो जाने दिया जाये। नया कवि पद्य, छंद और तुक को रूढ़िबद्ध रूप में ग्रहण न करके आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग करना चाहता है। उसका आग्रह अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्तिगत ईमानदारी पर अधिक है। इसीलिए वह ऐसे काव्य-रूप को अपनाता है जो उसके कथन की प्रकृति के अनुरूप हो अथवा जिससे उसके मन की संगति स्थापित हो, वास्तविक सौंदर्य भी बाह्य-संगति में न रह कर आन्तरिक-संगति में ही निहित रहता है। कविता के लिए मैं लय को अनिवार्य मानता हूँ। लय से ही संगीतात्मकता उत्पन्न होती है और छंद की भी सृष्टि होती है। किन्तु लय शब्द की ही नहीं अर्थ की

भी हो सकती है। आज जब कविता इस अर्थ की लय को पकड़ कर चलती है तो छंद का स्थूल रूप पीछे छूट जाता है। जो उसके लयात्मक अर्थ-तत्व पर ध्यान नहीं देते उन्हें वह गद्य में ही लिखी प्रतीत होने लगती है। कुछ को तो मुक्त छंद भी गद्य जान पड़ता है। आज यदि कवि नयी अभिव्यंजना-शक्ति लाने के लिए नये रूपों की ओर झुक रहा है तो यह आरोप करना कि पद्य-रचना करने में वह अशक्त है, उसके प्रति अन्याय करना है, क्योंकि वह उस मार्ग पर चलने के बाद ही नयी दिशा की ओर मुड़ा है। उसका सारा त्याग किसी उपलब्धि के लिए है, यदि वह उपलब्धि नहीं होती तो निश्चय ही उसके प्रयत्न को (प्रयोग को नहीं क्योंकि उसकी तो यह स्थिति ही तब तक नहीं आती) निरर्थक माना जायेगा। साहित्य-सृजन के विशाल क्षेत्र में नयी संभावनाओं को लाने में थोड़े से प्रयत्नों का निरर्थक जाना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि नयी दिशा में लाने का प्रयत्न ही पाप है।

नयी कविता के प्रति मेरा दृष्टिकोण अविश्वास और संदेह का नहीं है। मैं उससे उन तन्तुओं को पाता हूँ जिनके द्वारा अर्थ और भाव को विशेष शक्ति मिलती है। श्री अरविन्द के इस विचार में कि भावी कविता(Future Poetry)की प्रकृति ऋचा-प्रकृति होगी बहुत कुछ सार प्रतीत होता है। नयी कविता वाणी के पथ को प्रशस्त करती हुई उसी ओर प्रयाण कर रही है, ऐसा मुझे लग रहा है।

नया कवि छंद को सँवारने की अपेक्षा वस्तु-तत्व को व्यवस्थित करने, उसके रूप (Form)को उभारने और अनुभूति के मूल ढाँचे (Structure) को सशक्त बनाने का विशेष प्रयत्न करता है। नाद पूर्ण कोमल शब्दों की संयोजना न करके वह भाव-सत्य एवं विचार-सूत्र को तीव्रता से पकड़े रहने और उसे तीव्रतर बनाने की ओर प्रवृत्त होता है। उदात्तीकरण के स्थान पर वह भावों में धनत्व और तीव्रता (Intensitynsityn) लाने की चेष्टा करता है। उसके कथन में इसीलिए सीधापन प्रायः अधिक मिलता है। नयी कविता में बौद्धिकता के तत्व पर मैं अन्यत्र (आलोचना: अंक सात) विचार कर चुका हूँ जिसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

कविता के समानान्तर साहित्य और कला के अन्य रूप भी बदल रहे हैं, विशेष रूप से मूर्ति कला और चित्रकला के क्षेत्र में जो परिर्वतन हुए हैं और हो रहे हैं उन्हें देखकर नयी कविता के मर्म को और भी अधिक सूक्ष्मता से समझा जा सकता है।

पद्मसिंह शर्मा के जिस भाषण का अंश प्रारंभ में उद्धृत किया गया है उसी में उन्होंने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी और वह यह कि 'छायावाद के नाम से हिन्दी में जितनी कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें यदि एक भी अच्छी कविता है तो उसी एक कविता से हमें छायावाद की परीक्षा करनी चाहिए।' मैं पाठकों के आगे यही प्रस्ताव नयी कविता के सम्बन्ध में करता हूँ। जो आशक्त है उसकी

चिंता करना व्यर्थ है वह तो वैसे ही नहीं जियेगा किन्तु जो इतना शक्ति-सम्पन्न है कि युगों पुरानी रूढ़ियों को तोड़ डाले, उसको बिना सोचे समझे उपेक्षित अथवा लांछित करना न केवल अन्याय है वरन् अपराध भी है।

❖

नयी कविता: अर्थ की लय

बात अब बहुत आगे बढ़ आयी है। कई अर्थों में। एक अर्थ वह जो उन लोगों द्वारा ग्रहण किया जाता हे जिन्हें पैरों के नीचे से खिसकती धरती के आतंक 'नयी कविता, ह्रास की ओर' जैसे विषय पर आयोजित आकाशी परिसंवादों में तनिकों का सहारा खोजने के लिए बाध्य करता है अथवा जिनको, नयी कविता की अदम्य अप्रतिहत प्रगति जब किन्हीं अन्य उपायों से रूकती नहीं दिखाई देती तो, राह में ईट-पत्थर, कील-काँटे झाड़-झंखाड़ बिछाने में ही आत्मगौरव एवं आत्मसंतोष का अनुभव होता है। दूसरा अर्थ वह जो एक सीढ़ी से दूसरी और दूसरी से तीसरी के क्षिप्र एवं विश्वस्त संतरण की व्यंजना करता है और जिसे वे लोग ग्रहण करते हैं जिन्हें वर्षों से सोयी काव्य-चेतना नयी कविता के रूप में नवोन्मेष और नवसृजन के संकल्पों से आलोकित-आपूरित दिखायी देती है। उगती हुई हर अरूणाभ किरन को मरोड़ते हुए जो सूरज को (पान की तरह) मुँह में दबा रखने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अब यह सूरज प्रभात का नहीं रहा, इसके ललाट से मध्याह्न का तेज फूटने लगा है और अब इसको छूने-मिटाने का साहस 'संकट मोचन' पवनपुत्र ही नहीं बनायेगा, वह वर्षों तक गुफावास करने के लिए झुलसे पंखों वाला क्षुधा-जीर्ण संकटग्रस्त संपाती भी बना कर छोड़ सकता है।

कुछ नामभीरू धनुर्धरो ने मन-ही-मन नयी कविता के पुतले जलाये जब उससे भी वह दिवंगत नहीं हो सकी तो उसे व्याकरण के बाणों से क्षत-विक्षत करने का संगठित प्रयत्न किया। नयी कविता फिर भी अक्षत रही क्योंकि बाद में पता चला कि उनके वे सारे धराऊ शर कुंठित ही नहीं कुंठाजात भी थे।

यह मानना होगा कि नयी कविता ने युगों बाद प्रखर ओजस्विता के साथ इस प्रश्न को एक बार फिर से उठा दिया है कि काव्य की आत्मा क्या है? अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' के समाधान खंड-सत्य को अथवा सत्य परिपार्श्व को ही व्यक्त करते हैं। रस भी आज कदचित् अन्तिम उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सारे समाधान मध्ययुगीन चिन्ता धारा से उत्पन्न हुए हैं अतः स्वाभाविक रूप से इनसे मनुष्य के प्रति वही दृष्टिकोंण अन्तर्निहित है जो मध्यकाल के जीवन की प्रकृति के अनुरूप संभव था। अलंकार, रीति और वक्रोक्तिपरक समाधान उस युग की विलासमूलकता तथा कौशल-प्रियता को विशेष प्रतिबिम्बित करते हैं अतः मानवीयता का अंश इनमें

कम है। ध्वनि-मत प्रायः तटस्थ है यद्यपि वह मानवीय अर्थ-चेतना की ओर गंभीर संकेत करता है। रसपरक समाधान इन सब की अपेक्षा कहीं अधिक मानवीय है परन्तु जहाँ एक ओर वह अलौकिक आनन्दानुभूति का पोषक है वहाँ अनिवार्य रूप से उसकी स्थिति भावावेग के समक्ष बौद्धिक चेतना को उपेक्षित अथवा पराजित माने बिना संभव नहीं होती। बुद्धि की क्रियाओं पर आवरण डालकर चित्तवृत्ति को स्थायी भाव से सम्पृक्त करके चरम आनन्द की दशा तक ले जाना उसकी प्रक्रिया का निश्चित रूप माना गया है। आज के सजग बौद्धिक-चेतनाशील मनुष्य को बिना विचारों का परितोष प्राप्त किये इस प्रकार आदिम संवेग से विगलित हो जाने में आनन्द की ही नहीं पराजय की भी अनुभूति हो सकती है और शायद कभी-कभी होती भी है। कम से कम इतना तो निर्विवाद सत्य है कि वह एकान्त क्षणों में अपने चित्त को द्रवित करने वाली कला-कृति के नैतिक-मूल्य के प्रति सजग होकर, व्यापक सामाजिक परिवेश में अपने को रखकर विचार करते हुए, उसके पुनर्मूल्यांकन के लिए आत्मप्रेरणा से अब स्वयं बाध्य होता है। परिणाम यह निकलता है कि अपने इस नये उलझाव के कारण वह पूर्णतया आनन्द से अभिभूत नहीं हो पाता। कुछ अवस्थाओं में उसे अपना पूर्वमत बदलना पड़ जाता है तथा विकसित बौद्धिकता के कारण ही वे कलाकृतियाँ जो कभी उसे सहज ही रस-प्लावित करने में सक्षम होती रहीं, वैसा प्रभाव पुनः उत्पन्न करने में असमर्थ सिद्ध होने लगी हैं। ऐसी दशा में उसे प्रतीत होने लगता है कि जैसे रस उसी मनुष्य के लिए काव्य का अन्तिम समाधान हो सकता है जो आज के वैज्ञानिक युग की चेतना से सर्वथा असम्पृक्त रहा हो, जिसे संवेग के आगे अपने बौद्धिक व्यक्तित्व की पराजय से क्षोभ न होता हो, जो यथार्थ से विमुख होकर मात्र भावुकता के आवेश से कल्पना-लोक का प्राणी बनने में ही जीवन की सार्थकता समझता हो। आज के युग के बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर दे या संवेग से पराजित सौन्दर्य-बोध से पूरी तरह अपना समझौता कर ले। उसे अब ऐसे सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा होने लगी है जिसमें उसकी भावात्मक सत्ता के साथ-साथ उसके बौद्धिक व्यक्तित्व का भी संतुलित समावेश हो। बिना किसी प्रकार की पराजय एवं क्षोभ के वह अपनी सम्पूर्ण चेतना को आस्वादन से पूर सके। इसे एक दृष्टि से नये स्तर पर रसास्वादन की प्रतिष्ठा कहा जा सकता है और दूसरी दृष्टि से नये सौन्दर्य-बोध का उदय। नयी कविता इसी नये सौन्दर्य-बोध के आविर्भाव और आग्रह की सृष्टि है। उसमें कला को मात्र मनोरंजन का साधन न मानकर मानवीय धरातल पर ग्रहण करते हुए उसे मानव व्यक्तित्व के निहित एवं अकृत्रिम रूप की खोज में प्रवृत्त किया जा रहा है। वर्तमान युग की परिस्थितियों को देखते हुए यह सही दिशा कही जा सकती है। विचार-संयुक्त भावाभिव्यक्ति द्वारा मानव-व्यक्तित्व के प्रति अधिक से अधिक आत्म विश्वास उत्पन्न हो, यही आज की कविता और कला का वास्तविक लक्ष्य है। स्त्री-शूद्र की भर्त्सना और जर्जर वर्ण-व्यवस्था की तद्वत पुनः संस्थापना के उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखी गयी परम रसात्मक कविता भी आधुनिक चेतना से युक्त भारतीय 'सहृदय' को असम्पृक्त

अथवा खिन्न छोड़ जायेगी यह एक कटु सत्य है। फिर यदि यह कहा जाता है कि, 'Your modern poet does expect you to use your brains अथवा 'A monstrous new conception of poetry, which requires one to think before one can begin to enjoy' तो इसमें कौन सा अपराध है।

अर्थ की लय का प्रश्न नयी कविता को रूप-विधान से सम्बन्ध रखता है। पिछले अंक में इसका संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। लय के अभाव का उद्घोषण करके नयी कविता पर वज्र-प्रहार करने की वृत्ति अभी कम नहीं हुई है इसीलिए यहाँ इस समस्या को कुछ विस्तार के साथ उठाया जा रहा है। वस्तुतः विरोधी पक्ष को जब अपने और सारे तर्क झूठे पड़ते दिखाई दे रहे हैं तो वह इस 'सींक के बाण' को मन्त्र पढ़-पढ़ कर ब्रह्मास्त्र बनाने के लिए कटिबद्ध हो रहा है।

'शब्द' और 'अर्थ' तत्वतः पृथक् सत्ता रखते हैं। संगीत में शुद्ध 'शब्द' ध्वनि में एवं नाद रूप में ग्रहीत होता है- अर्थ से असम्पृक्त, निरपेक्ष। इसी प्रकार लिपि में तथा अन्य संकेत-विधियों में 'अर्थ' शब्द-निरपेक्ष होकर अवतरित होता है। शब्द श्रवणीय है, अर्थ बुद्धि-ग्राह्य। वाणी एवं साहित्य में ही आकर शब्द और अर्थ दोनों अन्योन्याश्रित, असम्पृक्त तथा अभिन्न अवस्था प्राप्त करते हैं। शब्दार्थ के युगनद्ध एक-प्राण हो जाने में ही साहित्य की सार्थकता है। 'वागर्थाविवसम्पृक्तौ' तथा 'गिरा अरथ जल-बीचि सम' जैसी उक्तियाँ केवल साहित्य अथवा काव्य को लक्षित करके ही लिखी गयी है।

'लय' गति और यति के पारस्परिक संघात से निष्पन्न होती है। यति विरामात्मक एवं कालसापेक्ष होती है अतएव लय भी तात्विक दृष्टि से आवृत्तिमूलक और कालसापेक्ष सिद्ध होती है। 'लय तत्व आणि संगीत' शीर्षक लेख में मराठी विचारक अरविंद मारूळकर ने इस तथ्य की ओर स्पष्टता से निर्देश किया है। उन्होंने लय-तत्व को अमूर्त, स्वयंभू और स्वतन्त्र मानते हुए उसकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता 'संभरण शक्ति' (Power of integration), की ओर भी निर्देश किया है। कविता तथा अन्य ललित कलाओं में लय तत्व की इतनी महत्ता वस्तुतः उसकी इसी शक्ति के कारण रही है। कलाकृतियों के प्रभाव का विश्लेषण करने पर उसका एक महत्वपूर्ण गुण् और लक्षित होता है ओर वह है अपने क्रमिक संस्पर्श से भावावेग को उद्दीप्त करने की क्षमता। सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा लय-तत्व का जीवन से बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है। उसकी व्याप्ति चेतना के क्षेत्र में बहुत गहरी है। हृद्गति, श्वास-प्रश्वास, ऋतु-चक्र, दिन-रात आदि का अनुभव तो क्रमिक रूप से होता ही है,जीव-विज्ञान में जैविक-शक्ति के साधारण क्रिया-कलाप में भी वैज्ञानिकों को लयात्मक रूप'पैटर्न'की स्थिति परिलक्षित होती है। मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया भी लय युक्त सिद्ध हुई है।

शब्दार्थमयी कविता का, इस लय-तत्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलतः इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है। कविता की उत्पत्ति क्यों होता है यह कहना कठिन है पर इतना तो सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि वह मनुष्य के भाव-संवलित, संवेदनापूर्ण एवं आवेगयुक्त विशिष्ट क्षणों में ही बीज रूप से जन्म लेती है और बाद में बीज का फूलना, फलना, विकंसना भी प्रायः एक प्रवाह के आश्रित रहता है। 'प्रवाह' शब्द में जो कल्पना निहित है उसके सहारे कविता के रचना-विधान की प्रकृति को और भी सूक्ष्मता से समझा जा सकता है। जहाँ तीव्र गति होती है और साथ ही गहराई भी वहाँ स्वाभाविक रूप से आवर्तन-विर्वतन की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है। लय की कविता के साथ आवयविक समन्विति इसीलिए होती है कि वह अर्थात् कविता मानव हृदय की गहराई और भाव-संवेगों की, विशिष्ट क्षणों में आन्तरिक रूप से परिचालित, गति का प्रतिफलन है। यदि यह स्थापना सही है तो निश्चय ही इस 'गहराई से युक्त गतिशीलता' का स्वरूप उस शब्दार्थ में अवश्य ही लक्षित होना चाहिए जो उसका अनिवार्य धारक और माध्यम है। शब्द में लय की स्थिति तो परम्परा से मान्य रही है, 'छंद' उसी का नियोजित रूप है पर अर्थ की लय की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। कविता की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कवियों तथा समीक्षकों ने यत्र-तत्र जो कुछ कहा है उसी में इसके कुछ सूत्र मिलते हैं।

कविता में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध तथा लय की समस्या पर अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक आई0 ए0 रिचर्ड्स ने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। 'काव्य में लय केवल शब्द तक सीमित नहीं है। पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव अर्थ के साथ संयुक्त होकर पड़ता है अतएव बिना अर्थ का विचार किये अच्छी बुरी लय का अंतर कविता में नहीं किया जा सकता और 'शब्द की लय, विचार करने पर, अन्ततः भाव और अर्थ की समष्टि में ही पहचानी जाती है जिसमें हमारी मानसिक चेतना की लय समाहित रहती है' उनकी यह तथा ऐसी अन्य धारणाएँ 'अर्थ की लय' की स्थापना के लिए सम्यक् आधार प्रस्तुत करती हैं। {(1)...The difference between good rhythm and bad is not simply a difference between certain sequence of sounds, it goes deeper, and to understand it we have to take note of the meanings of the words as well.'

...The rhythm which we admire, which we seem to detect actually in the sounds, and which we seem to respond to, is something which we only acribe to them and is, actually, a rhythm of the mental activity through which we apprehend not only the sound of the words but sense and feeling.' PRACTICAL CRITICSM p.no. 227 & 229} प्रो0 रिचर्ड्स ने अनेक मनोरंजक उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि शब्द की लय में अपने अनेक गुण हैं तथापि यह सोचना घातक है कि बिना अर्थ के साथ घनीभूत संगति प्राप्त किये कविता

के लिए उनकी, अपनी कोई स्वतन्त्र सार्थकता है। उन्होंने श्रेष्ठ काव्य में शब्दार्थ के सहयोग के अतिरिक्त एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की है जहाँ शब्द और अर्थ पारस्परिक घात-प्रतिघात के प्रभाव में विशेषता उत्पन्न करते हैं। टी0एस0 इलियट ने 'संगीतात्मक कविता' की परिभाषा बताते हुए उसमें ध्वनि लय के अतिरिक्त अर्थ के भी लयात्मक रूप (a musical pattern of sound and a muscial pattern of the secondary meanings of the words) की सत्ता मानी है साथ ही दोनों की अभिन्नता का भी प्रतिपादन किया है। (satected prose, P.no. 60.) 'Making of a poem' मेंa स्टीफेन स्पेंडर ने अपने अनुभव के आधार पर कविता की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य का स्पष्ट निरूपण किया है कि 'काव्य रचना के क्षणों में जिस शब्द-संगीत को साधने का उपक्रम करता हूँ वह कभी-कभी मुझे शब्दों से परे ले जाता है जहाँ मुझे केवल लय का, एक नृत्य का, एक तीव्र ऊर्जा का अनुभव होता है जो प्रायः शब्द-शून्य होता है।(The Creative process Page No. 124)

हर्बर्ट रीड ने आधुनिक कविता के 'रूप' का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसके दो भेद माने हैं- एक 'आवयविक रूप' (Organic Form) और दूसरा 'अमूर्त रूप' (Abstract form) पहला कविता के मूल ढाँचे और वस्तु (Structure) के रचनात्मक आवयविक संगठन की सिद्धि है जिसके अपने निहित नियम होते हैं तथा दूसरा इसी रूप के आवर्तन से उद्भूत होता है। कविता के शब्दार्थ की विविध संगतियों, लयों की ओर इन दोनों भेदों में भी गूढ़ संकेत है जिसे ग्रहण कर लेना किसी विचारशील व्यक्ति के लिए कठिन नहीं है। (Form in Modern poetry, P.No. 9) काव्य की मनःस्थिति के वाहक शब्द (अर्थयुक्त) ही हैं और वही लयबद्ध होकर उसकी सघनता को धारण करते हैं, इसकी ओर भी हर्बर्ट रीड ने इंगित किया है। (Form in Modern Poetry, P.No. 44-45) हॉपकिंस की 'Running Rhythm' और 'Sprung Rhythm' की मान्यता पर विचार करते हुए उन्होंने एमर्सन की अन्तर्दृष्टि से युक्त, एक उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि कविता की सृष्टि छंद से नहीं होती वरन् उस सहज आवेगपूर्ण सजीव विचार से होती है जिसमें अपना स्वयं का आवयविक संगठन होता है। छंद तो इस प्रक्रिया का एक स्थूल परिणाम मात्र है। इसी प्रकार जी0एच लीविस ने 'The Inner Life of Art' में कविता और लय के घनिष्ठ मौलिक सम्बन्ध का निर्देश करते हुए शब्दों की लय के समानान्तर भावनाओं की लय की स्थिति भी स्वीकार की है। (Rhythm then is not a thing invented by man but a thing evolved from him, and is not merely the accidental form, but the only possible form of poetry; for there is a rhythm of feeling correspondent in the human soul.—Anthology of Critical Statements, P.No. 182) कविता में यही भावनाओं की लय प्रकारान्तर से अभिव्यक्त होकर 'अर्थ की लय' का रूप धारण कर लेती है, उक्त कथन में सरलता से इतना और जोड़ा जा सकता है। इस क्रम में और भी अनेक काव्य-चिंतकों के मत उद्धृत किये जा सकते हैं पर मैं समझता हूँ कि 'अर्थ की लय' सम्बन्धी मूल स्थापना

की आधार-भूमि का आभास देने के लिए इतने पर्याप्त हैं। जिस प्रकार ध्वनि अथवा शब्द-खंडों का फिर-फिर कर आना क्रमिक रूप से लय के विभिन्न प्रकारों को जन्म देता है उसी प्रकार अर्थ-खंडों का क्रमिक, ग्रथित आवर्तन-प्रत्यावर्तन अर्थ की लय के विविध रूपों की सृष्टि करता है। शब्द की लय की जितनी विधाएँ कविता में व्यवहृत होती हैं उनमें कई गुनी अधिक विधाएँ अर्थ की लय की रही है; केवल उनके पूरे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया है। अनेक प्राचीन अर्थालंकारों की स्थापना लयाश्रित है। लक्षणाव्यंजनादि अनेक शब्द-शक्तियों के संश्लिष्ट व्यापार से अगणित अर्थों की निष्पत्ति साहित्य में मानी गयी है जो यथार्थ है। उनके लयात्मक समन्वय के बहुसंख्यक प्रकार और प्रभेद हो सकते हैं यह सोच लेना कठिन नहीं हैं पर आज मध्यकालीन शैली में भेदोपभेदों का जाल रच देना कविता के लिए उपादेय नहीं होगा। आवश्यकता मूलतत्व के पहचानने और ग्रहण करने की है। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'अर्थ की लय' की कल्पना साधार है।

वस्तु भावावेगपूर्ण हो और रूप-विधान पर उसका कोई प्रभाव न पड़े यह अपने सहज क्रम में असम्भव है। साधारण वार्तालाप प्रायः ऋजु गति से चलता है पर भाववेग से युक्त कथन में तथा आवेशपूर्ण भाषाण में अर्थ-खंडों की आवृत्ति स्वाभाविक रूप से होने लगती है। अगर यह सही है तो कविता की गहन प्रगाढ़ अनुभूति कथन को गद्य की साधारण ऋजुता की स्थिति में कैसे छोड़ सकती है। पर इनका विलोम सत्य नहीं है। कथन की भंगिमा कृत्रिम रूप से बदलने अथवा आरोपित करने से वास्तविक अनुभूति की व्यंजना संभव नहीं है। वह तो उसका मात्र बनावटीपन ही व्यक्त कर सकती है। गहरी वेदना से निकले हुए आँसुओं और प्याज लगा कर निकाले गये आँसुओं में अन्तर करना ही होगा। लय का काव्यापेक्षित रूप यदि अपनी तात्विक संगति रखता है तो वह न कभी कृत्रिमता उत्पन्न करेगा और न एकस्वरता। कविता का जो आधार आन्तरिक और तात्विक होता है वह पंक्तियों को तोड़-तोड़ कर लिख देना या उन्हें एक साथ गद्य की तरह छाप देने से कभी नष्ट नहीं हो सकता और यदि होता है तो उसे तात्विक कहना एक विडम्बना मात्र होगी। 'अर्थ की लय' एक ऐसी वास्तविकता है जिसका लोप छापने या लिखने की बाह्य विधि से संभव नहीं है।

और भी दो एक बातों का स्पष्टीकरण और आवश्यक है। कुछ लोगों की धारणा है कि छंदात्मकता अर्थात् शब्द की लय कविता को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है। कुछ दूर तक यह बात सही भी है, क्योंकि ध्वनि का एक दिशा में सुनिश्चित प्रभाव होता है और भावों को जागरित अथवा मूच्छित करने में उसकी सामथ्र्य प्रायः निर्विवाद है परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संगीत से कविता की स्थिति और प्रकृति भिन्न है। जैसा प्रारंभ में कहा जा चुका है संगीत से कविता की स्थिति और प्रकृति भिन्न है। जैसा प्रारंभ में कहा जा चुका है संगीत में अर्थ-तत्व या तो होता ही नहीं और यदि गेय पदों अथवा गीतों के अन्तर्गत होता भी है तो उसकी गौणता सुनिश्चित है। कविता अपने

मूलरूप में अर्थ-प्रधान है और संगीत-तत्व अथवा शब्द-लय को वहीं तक गाह्य माना जायेगा जहाँ तक वह काव्यार्थ को प्रस्फुटित करने में सहायक सिद्ध हो अन्यथा यदि वह कविता को आन्तरिक शक्ति प्रदान करने के स्थान पर उसके अर्थ को आच्छादित अथवा कुंठित करती है तो उसे असंदिग्ध रूप से अनपेक्षित मानना होगा। कविता को केवल शब्द-लय के सहारे पढ़ने वाला बहुत कुछ खो देता है इसके विपरीत सही पाठ-विधि उसके सूक्ष्म भावों तथा सांकेतिक अर्थों को उभारने में काफी सहायक होती है। यह पाठ-विधि छंद की तरह जड़ मात्रिक क्रम से नियोजित न होकर स्वर के आरोह-अवरोह पर आश्रित रहती है जिसका निश्चय अर्थ की लय करती है। नयी कविता में शब्द-लय और छंद का इसी दृष्टि से ग्रहण हो रहा है फलतः उसका रूप बहुत सी प्रचलित परम्परागत कविता से भिन्न दिखाई देता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह कविता नहीं है वरन् यह होना चाहिए कि वह अधिक सही अर्थ में कविता है। अर्थ की लय असंयमित रूप से प्रयुक्त होने पर अन्य प्रकार की अर्थ-विकृतियाँ उत्पन्न कर सकती है, परन्तु अर्थ को अच्छादित वह कभी नहीं करती है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह तथाकथित 'अर्थ की लय' विरामादि विभिन्न चिन्हों(Punctuation marks)से स्वतन्त्र सत्ता रखती है ? उत्तर होगा स्वतन्त्र सत्ता रखती है, क्योंकि इन चिन्हों के लिए आवश्यक नहीं है कि वहीं प्रयुक्त हों जहाँ अर्थ के आवर्तन-प्रत्यावर्तन का कोई रूप हो ही जब कि लय में इस रूप का किसी न किसी प्रकार होना अनिवार्य है। एक कारण यह भी है कि ये चिन्ह 'अर्थ को स्पष्ट' करने के लिए प्रयुक्त होते हैं, अर्थ का अंग नहीं होते और अर्थ की लय अर्थ की ही एक आवयविक संगति होती है। लय के शब्दात्मक और अर्थात्मक दो रूपों के प्रतिपादन का तात्पर्य कविता के क्षेत्र में शब्द और अर्थ को परस्पर विभाजित करके एक नया द्वन्द्व खड़ा करना नहीं है, क्योंकि रचना प्रक्रिया में शब्द-अर्थ का संश्लिष्ट स्थिति की महत्ता को प्रारंभ में ही स्पष्टता से स्वीकार किया जा चुका है। श्रेष्ठ कविता के लिए शब्दार्थ का संयुक्त रूप से लयान्वित होना आवश्यक है किन्तु कविता को अर्थ-प्रधान मानने के बाद केवल अर्थ की लय के सहारे सर्जित, ऊपर से गद्य जैसी लगने वाली रचना को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक ऐसी स्थिति को असाधारण स्थिति को असाधारण स्थिति ही कहा जा सकता है, लेकिन तब प्रत्येक छंद-बद्ध कथ्य को कविता मनवाने की आग्रहपूर्ण स्थिति, जिसे उत्पन्न करने के लिए कुछ मान्य साहित्यकार कटिबद्ध हैं, हीन स्थिति कही जायेगी।

बहुत से कुशाग्र-बुद्धि व्यक्तियों के आगे बात तब तक स्पष्ट नहीं होती जब तक उन्हें उदाहरण देकर न समझाया जाये। यही सोचकर नीचे कुछ उद्धरण 'अर्थ की लय' का बोध कराने के लिए उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे हैं।

अर्थ की लय से हीन पद्य

बंजर बुंदेली धरती पर केन किनारे,

कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,

कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर

चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।

(कविता-1' में प्रकाशित श्रीराम विलास शर्मा की कविता का प्रथम पद्‌य)

अर्थ की लय से युक्त पद्‌य

रात का बंद नीलम किवाड़ा डुला,

लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,

हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,

हर बटोही जिला, ज्योति-प्लावन चला;

('नयी कविता-1' में प्रकाशित गिरिधर गोपाल के गीत का एक अंश,)

अर्थ की लय से हीन मुक्त छंद —

बात ऐसी है

कि कहना चाह कर भी जो नहीं कल कह रहे थे,

या नहीं कह पा रहे थे,

वह पुराने की विवशता थी।

अब विवशता मिट रही है,

मौन धीरे खुल रहा है,

यह नये स्वर का करिश्मा है।

('आधार' के 'नयी हिन्दी कविता विशेषांक' से, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविता का अंश)

अर्थ की लय से युक्त मुक्त छंद है —

आज तुम शब्द न दो, न दो

कल भी मैं कहूँगा।

तुम पर्वत हो, अभ्रभेदी शिलाखण्डों के गरिष्ठ पुञ्ज

चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो

तुम्हारे रन्ध्र- रन्ध्र से

तुम्हीं को रस देता हुआ

फूट कर? मैं बहूँगा।

('नयी कविता-1' से 'अज्ञेय' की एक कविता का प्रथमांश)

अर्थ की लय से हीन गद्य-

प्रकृति के विरूद्ध युद्ध करने के हेतु—

मैंने सामाजिक बन्धन का अस्त्र लिया,

पर संगठित मनुष्यता की शक्ति इतनी कि

कुछ लोग प्रकृति से रक्षा का भार-सा-ले, दूसरे मनुष्यों को

स्वार्थ जाल में फँसाने लगे।

('काव्यधारा' के पृ0 158-59 पर प्रकाशित राजीव सक्सेना की कविता का अंश)

अर्थ की लय से युक्त गद्य—

हवा में झूमते,

केले के बड़े-बड़े गाछ,

फैले फैले पात,

अपने चित्र बनाने को

बुलाते रहे; बुलाते रहे।

(‘नयी कविता-2’ में प्रकाशित विपिन कुमार की कविता का अंश, पृ0 90)

इन उदाहरणों में लय का रूप प्रायः सतह से ही झलक जाने वाला है पर इनके अतिरिक्त शतधा सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप हो सकते है, होते भी हैं, इसको दृष्टि में रखना होगा। एक छोर पर हर कथन पद्यबद्ध होने के नाते कविता समझा जाता रहा दूसरे छोर पर काव्य-संस्कार और लय-बोध से हीन गद्य को भी कविता की संज्ञा मिलने लगी है। दोनों ही अतियों से सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसी अनेक कवितओं के नाम गिनाये जा सकते है जिनका बाह्य रूप-गद्य-कल्प होते-होते हुए भी आन्तरिक ढाँचा अर्थ की लय के सूक्ष्म तन्तुओं से विनिर्मित मिलता है। ‘हस्ताक्षर’, कलाकार और सिपाही तथा ‘टूटा पहिया’ जैसी रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

अन्त में अब कुछ और टिप्पणी न करके मैं इस सम्बन्ध में पंत जी की नव-प्रकाशित कृति ‘अंतिमा’ की ये पंक्तियाँ उद्धृत कर देना ही पर्याय समझता हूँ-

छंद बंध खुल गए

गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँते ?

सोना पिघल कभी क्या

पानी बनता कैसी बातें !

❖

नयी कविता: नये मनुष्य की प्रतिष्ठा

भले ही जिस प्रकार की कविता आज लिखी जा रही है उससे जनमानस की अंतरंग एकता स्थापित होने में कुछ देर लगे, क्योंकि उसके लिए जीर्ण संस्कारों को त्यागते हुए एक समानुपाती (Homogeneous) सांस्कृतिक चेतना के विकास की आवश्यकता होती है जिस तक पहुँचने में भारतीय समाज को अभी पर्याप्त संघर्ष करना पड़ेगा, किन्तु इतना निश्चित है कि सांस्कृतिक मूल्यों की वर्तमान अनस्थिरता एवं धुँधलेपन के कारण युग को वास्तविक कविता की आज जितनी पिपासा है उतनी मूल्यों के अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं स्पष्ट हो जाने पर आगे शायद न प्रतीत हो या उस समय की कविता फिर नया मोड़ लेकर किसी और ही दिशा में सशक्त सृजन की माँग कर उठे। युगीन आवश्यकता और काव्य-सृजन की सापेक्षिक स्थिति पर गहराई से विचार करते हुए शैली ने जो तथ्य उपलब्ध किया था उसकी महत्ता आज भी कम नहीं हुई है।

'The cultivation of poetry is never more to be desired than at periods when, from an excess of the selfish and calculating principle, the accumulation of the materials of external life exceed the quantity of the power of assimilating them to the internal laws of human nature'-------

Poetry enlarges the circumference of the imaginations by replenishing it with thoughts of ever new delight, which have the power of attracting and assimilating to their own nature all other thoughts, and which form new intervals and interstices, whose void for ever craves fresh food. Poetry strengthens the faculty which is the organ of the moral nature of man, in the same manner as exercise strengthens a limb'. —A Defence of poetry

शेली की यह उपलब्धि 'शिवेतरक्षतये' के कितने निकट हैं। विचार भूमि के इस स्तर पर पहुँच कर भारतीयता और अभारतीयता की सीमारेखा बहुत पीछे छूट जाती है, मनुष्य के विवेकपूर्ण, चिंतन, अभियान और गन्तव्य की एक दिशा स्पष्ट दिखायी देने लगती है। नयी कविता इसी दिशा में संघर्षशील नये मनुष्य की कल्पना से ज्योतित एक प्रकाश-स्तंभ है। जो उसके प्रकाश बिंदु को न देखकर कँकरीली पथरीली भूमि पर पड़ते उसके काले धुँधले छाया वृत्त को ही देखते हैं उन्हें यदि नयी कविता केवल विकृत अंधकार जैसी दिखायी देती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, केवल दृष्टिकोण का (थोड़ा सा) अन्तर है, यही स्वीकार करना होगा।

नये मनुष्य की बात करना यथार्थ से भागना नहीं है क्योंकि भावी युग के मानव की विविध संभावनओं की चिंता करना आज के विश्वव्यापी नैतिक संकट का स्वाभाविक परिणाम है। इस संकट के मूल में पारस्परिक अनास्था और भय निहित है,मनुष्य के भीतर की बर्बरता कब बाह्यारोपित नैतिक बंधनों को तोड़ कर महानाश की स्थित उत्पन्न कर दे इसकी आशंका छिपी है। यह इसलिए कि मनुष्य को मनुष्य के ही अन्तर में स्थिति सद्भाव के प्रति अडिग अकुंठ विश्वास नहीं रहा है। बर्बरता सद्वृत्ति से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो सकती है यह भयावह धारणा उत्पन्न हो गयी है। वर्तमान समय तक का सारा सांस्कृतिक विकास जो एक प्रकार से मनुष्य की सद्वृत्ति का प्रतिरूप है इस धारणा से झूठा पड़ जाता है। मेरे विचार से समसामयिक मानव संस्कृति की यही सबसे गहन समस्या है। यह समस्या इसलिए इतनी महत्वपूर्ण है कि विश्वासहीनता से जो हानि होती है यह विश्वासघात से हो सकने वाली हानि से बड़ी है। विश्वास से यहाँ अंधविश्वास का अभिप्राय नहीं है, क्योंकि विवेकहीनता किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं हो सकती। पहली स्थिति में दोनों पक्ष रिक्त हैं जबकि दूसरी में केवल एक पक्ष वैयक्तिक से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक इसी रिक्तता का घातक विष व्याप्त है। इसके समाधान के लिए प्राचीन या मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलनों की ओर मुड़ कर देखना आज शायद उपादेय नहीं होगा कारण यह कि इन आन्दोलनों का आरम्भ तो बहुत उदाराशयता से किया गया पर उनका अंत क्रूरतापूर्ण कट्टरता एवं संकीर्णता में हुआ जो आज भी हमारे

चारों ओर भग्नावशेष रूप में बिखरी पड़ी है। नये निर्माण के पहले ऐसी अवशिष्ट विकृतियों को हटाना आवश्यक है। उनके रहते अतीतोन्मुखी होने का अर्थ प्रकारान्तर से उन विकृतियों को प्रश्रय देना होता है। फिर जितनी बड़ी भौतिक शक्तियाँ आज विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में रख दी है उतनी बड़ी शक्तियों को संभालने की आवश्यकता यथार्थ रूप में इससे पूर्व कभी उत्पन्न ही नहीं थी। अतः आज की समस्या का अतीत से समाधान पा जाना या उसकी आशा भी करना स्पष्टतः दुराशापूर्ण पलायन होगा। समस्या का समाधान संभवतः इसी में है कि नये भाव-स्तर पर मनुष्य की मनुष्य के प्रति सहज आस्था जागरित हो-इतनी विशाल, इतनी प्रगाढ़ आस्था जिसे अन्तरिक्ष में स्थित ग्रहों-उपग्रहों की विजय का दर्प या इस पृथ्वी के विघात की भौतिक यान्त्रिक सामर्थ्य भी तोड़ न सके। आस्था के इस नव जागरण में प्रत्येक देश के नये चिंतक साहित्यकार या कलाकार का अपना योग होगा यह असंदिग्ध है, क्योंकि वह बहुत अंशों में मानव-मनोजगत का सूक्ष्म पर्यवेक्षक, संग्रह, घटक या निर्माता रहा है। अपनी कल्पना-शक्ति एवं व्यापक संवेदनीयता के कारण वही आगत को, उसके वास्तविक आगम से पूर्व प्रत्यक्ष करने का संकल्प करता है। शेली ने यदि कवि को विधायक (Legislator) या प्राक्दर्शी भविष्यवक्ता (Prophet) की संज्ञा दी तो वह इसी अर्थ में दी है। विधान सभा का सदस्य हो जाना या शासन से चिपक कर छंद-बद्ध पंक्तियों में अपना मत व्यक्त करना कवि का वास्तविक विधायकत्व नहीं है। भले ही वह इस देश में घटित हो रहा हो चाहे उस देश में।

नये मनुष्य की कल्पना को मूर्त करना किसी एक व्यक्ति के बस की बात नहीं है। उसके लिए पूरा युग का युग निरन्तर संलग्न रहे तभी वह प्रत्यक्ष की जा सकती है। हो सकता है कि उसको अवतरित करने में एक युग न लग कर अनेक युग लग जाएँ (सतयुग, त्रेता, द्वापर के अर्थ में नहीं) पर उसका प्रत्यक्षीकरण होगा अवश्य इसमें सन्देह नहीं। यहाँ इस स्तर पर नये मनुष्य की चर्चा छेड़ कर उसकी रूप-रेखा का कुछ भी संकेत न करना अनुचित होगा अतः मैं कुछ विशेषताओं की ओर इंगित करने का प्रयत्न करूँगा। नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव-मूल्य के रूप में स्वातन्त्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृतसंकल्प, कुटिल स्वार्थ भावना से विरत, मानव-मात्र के प्रति स्वाभाविक सह-अनुभूति से युक्त, संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः समान मानने वाला, मानव-व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैनिक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अनवनत, मनुष्य की अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान् प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अंतःकरण संयुक्त, सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवेक-सम्पन्न होगा। अगर कवि के आत्मरंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदना-संप्रेषण के

अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है, तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।

नयी कविता ही क्यों नयी कला, नये दर्शन, सब का आग्रह इसी उद्देश्य की पूर्ति है और यदि ऐसा नहीं है तो 'नया' या 'नयी' शब्द का प्रयोग तत्वतः निरर्थक मानना चाहिए। संवेदनाओं का एक स्तर वह है जिसे रूढ़ एवं परम्परागत रूप में ग्रहण किया जाता है पर एक अन्य स्तर वह है जहाँ संवेदनाएँ सीधे-साधे अपने वास्तविक अविकृत अकलुष रूप में सामने आती है। आधुनिक चेतना इस स्तर को पहले की अपेक्षा अधिक महत्ता देती है और इसी के सहारे रूढ़िबद्ध पुराने मूल्यों को ढहाती गिराती नये मूल्यान्वेषण में तत्पर होती है। सत्य को परखने अपनाने और उसके लिए जूझने तथा सब कुछ सहने की तत्परता देने वाली एक आत्म-शक्ति होती है जो असत्य, अनृत, कृत्रिम और निर्जीव राख से ढँके अंगारे के भीतर छिपी चिनगारी में तेज की तरह व्याप्त रहती है। राख के अनेकानेक ढूहों-स्तूपों का मूल्य उस नन्हीं स्वल्प चिनगारी के आगे कुछ भी नहीं है। आवश्यकता चिनगारी को खोजने और रक्षित रखने की वृत्ति की है। अनुभूति किसी न किसी गहरे क्षण में ऐसी चिनगारी की अकलुष उष्णता का अनुभव होता है परन्तु अभी सामाजिक धरातल पर उसे वस्तुगत यथार्थ के रूप में व्यक्त कर पाना, विषम परिस्थितियों के कारण सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसी का दर्द इसी का आभाव और असंतोष नयी रचनाओं में यत्र तत्र प्रकट होता रहता है। नया मनुष्य प्रत्येक सचेतन व्यक्ति के भीतर अपना रूप ग्रहण करने लगा है इसमें संदेह नहीं है क्योंकि आज का सारा मानसिक संघर्ष इसी का परिणाम है।

यह चिनगारी जिसके हृदय में दीप्त हो उठे वही हमारा समान धर्मा है। आज हो या कुछ वर्ष बाद, देश हो या विदेश यह सब हमारी सीमाएँ नहीं हैं। इंग्लैण्ड के न्यू लाइन्स (New Lines)नामक लेखक वर्ग ने प्राचीन रूढ़ संस्कारों के विरूद्ध अपनी रचनाओं में जो सशक्त स्वर व्यक्त किया या कर रहा है, निकट का कोई परिचय न होते हुए भी उससे हमारी आत्मीयता है। जियोफ्रे मूर (Geoffrey Moore) द्वारा प्रस्तुत सन् '50 के बाद की अंग्रेजी नयी कविता के संक्षिप्त विवरण में वहाँ के तरूण वर्ग के प्रमुख कवि फिलिप लार्किन

(Philip Larkin) की 'चर्च गोइंग'(Church Going) शीर्षक कविता विशेष रूप से उद्धृत की गयी है क्योंकि उसने समय के साथ झूठे पड़ते हुए संस्कारों के विरूद्ध अनुभूति की वास्तविकता और सत्यता का पक्ष लिया गया है। सत्य के निकट रहने से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो एकता और समीपता उत्पन्न होती है वह भौगोलिक समीपता से अधिक महत्वपूर्ण है। असत्य ही घातक है। इस युग में

असत्य का प्रसार एवं प्रचार कितना विध्वंसक हो सकता है इसका संकेत एच0 कॉडवेल(H.Caudwell) ने निम्नलिखित पंक्तियों में काफी स्पष्टता से किया है।

The realisation that it is possible to influence millions by the deliberately told life is one of the most dreadful threats that civilisation has ever been compelled to face. The atomic bomb in itself is harmless but the untruth or the deliberately fostered ignorance, that influence a nation may, at any moment cause is to dropped. Only truth can combat falsehood and the artist is the champion of truth. Without truth there can be no freedom.

—The creative Impulse, P.no. 154

अतएव सांस्कृतिक मूल्यों का वर्तमान अनिश्चय, सत्य के प्रच्छन्न तिरोहित तथा विकृत रूप को स्वच्छ, स्पष्ट और प्रकृत बनाकर ही दूर किया जा सकता है। यह तभी संभव है जब मनुष्य के व्यक्तित्व और स्वाभिमान को केन्द्र में रखकर आस्थापूर्ण दृष्टिकोण से सारी स्थिति पर विचार किया जाये। मनुष्य एक ऐसी सामाजिक इकाई है जिसे परमपरागत शैली में देव दानव के रूप में तोड़ कर देखना या रेखा खींच कर विभाजित कर डालना उसकी यथार्थ सत्ता की उपेक्षा करना तथा उसके व्यक्तित्व को अस्वीकार करना है। अपवादों या अतिवादों से कभी वास्तविकता को पहचाना नहीं जा सकता। कहीं न कहीं विचारों के आमूल परिर्वतन की आवश्यकता दिखायी देती है। भिखारियों की दीन याचना भरी वाणी सुनकर दयार्द्र होते हुए दान में पैसा-दो-पैसा देकर दातापन के अहंकार से अपने को गौरवन्वित करने का संस्कार न जाने कितने युगों से हमारे मन मे घर करता आया है पर अब याचना की गिड़गिड़ाहट मनुष्य मात्र का अपमान लगती है और भिखारी में मानवोचित स्वाभिमान का अभाव देख कर कष्ट होता है। इस दयनीय स्थिति से सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था बदल कर कैसे उसे मुक्ति दिलायी जाये इसकी चिंता होती है। यह भी लगता है कि दान में कुछ पाकर संतुष्ट हो जाने से अधिक मूल्यवान वह संतोष है जो स्वयं अर्जित करने से उत्पन्न होता है अतः रूढ़ि का अनुसरण करके उससे किसी को वंचित करना अनुचित है। इसी प्रकार कुआँ खुदवा देना, धर्मशाला बनवा देना जिस स्तर की मानवीयता के द्योतक हैं उससे गहरा और व्यापक स्तर यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिक और भौतिक सम्पन्नता के मार्ग में आने वाली बाधाओं से समष्टि रूप में संघर्ष किया जाये। ईश्वर की देन के समक्ष मनुष्य की उपलब्धि की महत्ता स्थापित की जाये। नयी कविता इन स्तरों पर होने वाले संस्कारगत मानसिक परिर्वतन से अपने को विलग नहीं मानती वरन् वह इन्हीं सब स्थितियों से अपनी प्रेरणा प्राप्त करती है और स्वयं तद्नुरूप वातावरण का निर्माण भी करती है मानवीयता का यह रूप आज इतना व्यापक और स्वाभाविक है कि इसे किसी बँधी बँधाई देशी-विदेशी परिभाषा में घेर कर सीमित करना अथवा इसके कारण नयी कविता को उपेक्षा भाव से देखना, दृष्टि

संकोच और भावात्मक अक्षमता का परिचायक ही कहा जायेगा। वास्तव में मानव व्यक्तित्व के प्रति प्रगाढ़ आस्था और उसकी असीम सामर्थ्य में विश्वास ही नयी कविता को मानवीय बनाते हैं।

मानव-व्यक्तित्व तथा नये मनुष्य की कल्पना के प्रसंग में यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि उसके स्वाभिमान की धारणा नयी कविता के एक प्रतिमान रूप में बहुचर्चित 'लघु मानव' की धारणा से कहाँ तक मेल खाती है। क्या 'लघुता' की भावना 'स्वाभिमान की प्रेरक हो सकती है ? यदि हो सकती है तो किन परिस्थितियों में और कितना दूर तक ? मेरे विचार से मानव स्वाभिमान (Human Diginity) तथा व्यक्तित्व (Personality)से सम्पन्न मनुष्य अपने को लघु माने ही, यह आवश्यक नहीं है। यदि 'लघुता' को एक मानव-मूल्य माना जाये तो वह निश्चित रूप से 'स्वाभिमान' का विरोधी सिद्ध होगा। वास्तव में लघुता दूसरों की महानता से उत्पन्न एक अभिशाप है। महानता अथवा वीर पूजा (Hero worship)का विरोध करना, और लघुता को एक प्रतिमान बनकर मानव व्यक्तित्व पर उसे आरोपित करने का यत्न करना निरर्थक और परस्पर विरोधी है। मनुष्य को उसके सहज रूप में लघु मानने की कोई आवश्यकता नहीं। महान कहे जाने वालों के अत्याचार से पीड़ित 'तथा कथित' लघु मानव कवि की सहानुभूति एवं संवेदना का अधिकार हो, यह स्वाभाविक है। उसका पक्ष लेने में यदि 'लघुता की महत्ता' सिद्ध करनी पड़े तो भी अनुचित नहीं है, परन्तु किसी भी क्षण यह विस्मृत नहीं होना चाहिए कि यह लघुता 'तथाकथित' या व्यग्यपरक ही है, वास्तविक एवं वरेण्य नही। लघुता अगर वरेण्य हो सकती है तो किसी महानता से सम्बद्ध होकर ही जैसा भक्ति काल में दास्यभाव के अन्तर्गत हुआ (राम सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो) महानता का विरोध करते हुए वह कदापि वरेण्य नहीं हो सकती क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित है। अतः मनुष्य वास्तव में 'महान्' के आतंक से पूरी तरह तभी मुक्त हो सकेगा जब वह अपने को 'लघु' कहना छोड़ दे। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए यदि कोई स्वाभाविक सम्बन्ध हो सकता है तो वह समानता का ही हो सकता है। वही होना उचित भी है। पहले अपने को लघु कहना फिर लघुता का महत्व प्रदर्शित करना प्रकारान्तर से अपने को महान् कहना है। समानता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मानव को लघु कहा जाये। मेरे विचार से नयी कविता के प्रतिमानों की खोज में उत्साहवश लघुता पर अत्यधिक बल देना अनावश्यक है। जहाँ तक वह उपेक्षित और दलित मानवता के प्रति हमारी एकता और सद्भावना की द्योतक हो वहीं तक ग्राह्य है, उससे अधिक नहीं अन्यथा यह भ्रम हो जाने की संभावना है कि हम मानव व्यक्तित्व को मूलतः और अनिवार्यतः लघु मानते हैं। वास्तव में भक्ति-काल को छोड़कर सर्वत्र 'लघुता' प्रतिमान सूचक शब्द न होकर अपमान सूचक शब्द ही रहा है। तर्क के लिए यह कहना कि लिटिल मैन 'Little man'का तात्पर्य 'स्माल मैन' 'Small Man' नहीं है अथवा 'लघु' और 'छोटा' समानार्थी शब्द नहीं हैं, व्यर्थ का वाग्जाल खड़ा करना है जिस पर कोई भी समझदार

आदमी श्रद्धा नहीं करेगा। स्थिति यह है कि उसी 'Little Man' का अनुवाद एक व्यक्ति 'लघुमानव' के रूप में करता है तो दूसरा 'छोटे आदमी' के रूप में। सहज एवं प्रकृत मानव-व्यक्तित्व को परखना या उपलब्ध करना ही वस्तुतः आधुनिक साहित्य का लक्ष्य है, उसकी लघुता का निरंतर गुणगान नहीं।

❖

आचार्य-श्री की कृपा-दृष्टि

'नयी कविता' का यह अंक अप्रत्याशित विलम्ब से प्रकाशित हो पा रहा है इसके लिए हम परिस्थितियों और कारणों का अनावश्यक ब्यौरा न देकर सीधे-सीधे उत्सुक पाठकों, सम्बद्ध कवियों तथा अन्यान्य सहयोगी बन्धुओं से क्षमा चाहते है।

तीसरे अंक से इस चौथे अंक के प्रकाशन तक जो समय बीता इसमें नयी कविता सम्बन्धी सैद्धान्तिक चर्चा ने अधिक स्थिर स्वरूप ग्रहण किया है। इस दृष्टि से 'नयी कविता के प्रतिमान' का प्रकाशन विशेष उल्लेखनीय है। उसकी सभी स्थापनाओं से कोई सहमत हो यह आवश्यक नहीं है, परन्तु विचार के लिए उसमें पर्याप्त सामग्री मिलती है यह मानना होगा। कविता में भी अभिव्यक्ति की परिपक्वता, विविधता और विचार की दृढ़ भूमि स्पष्ट लक्षित होने लगी है। नये कवियों के जितने संकलन इस बीच प्रकाशित हुए उतने कदाचित् इससे पूर्व कभी नहीं हुए थे। फिर भी कुछ आलोचक-प्रवर ऐसे हैं जिन्हें 'नयी कविता' छद्मनामधारिणी वैशिष्ट्यहीन; अराष्ट्रीय; संस्कारच्युत; सीमित; संकीर्ण, तबकापरस्त, कृत्रिम विषाद की आड़ में अविचार और अनैतिकता का पोषण करने वाली; झूठी विभीषिका में पड़े हुए रोते-कराहते बाबुओं की क्षुद्र अभिलाषाओं, चिताओं एवं तृष्णाओं से भरी; पाश्चात्य आत्म-विज्ञापन की प्रथा से दूषित, आत्मपीड़ामय, संयम, शालीनता एवं दायित्वरहित, और सबसे अंत में 'क्रमागत काव्य-पद्धति से विलगाव' रखने के कारण 'हिन्दी के विकास का आगामी चरण' कहे जाने के नितान्त अनुपयुक्त तथा गण्यमान प्रौढ़ हिन्दी कवियों की पदनखनिर्गता सुरासरि तुल्य पतित-पावनी 'प्रतिनिधि नयी कविता' की तुलना में सर्वथा अप्रतिनिधि एवं हेय कर्मनासा दिखायी देती है। आचार्य जी प्रणम्य हैं, उनकी उपलब्धि सराहनीय है और उनका परम्परा-प्रेम और काव्य-ज्ञान अतुलनीय है यही कहने को जी चाहता है। हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के विद्वानों पर उनकी इस महान् तत्वदर्शिता का क्या प्रभाव पड़ा इसकी थोड़ी सी झलक मिल जाये तो क्या बुरा। 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित लेख 'खिन खारा खिन मीठ' के एक हिन्दी-मराठी लेखक ने 'आलोचना-सम्पादक' के प्रायः सभी आरोपों का उचित उत्तर देते हुए विनम्रता पूर्वक बताया कि उनकी यह धारणा कि 'हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं में क्रमागत काव्य-पद्धति से इतना बड़ा बिलगाव नहीं

दिखाई देता' तथ्य की दृष्टि से कितनी भ्रामक और निराधार है। उत्तरदाता ने प्रमाण में मराठी कवि मेर्ढेकर की रचनाओं का उल्लेख भी कर दिया है। अज्ञेय की कविता की अंतिम पंक्तियाँ उद्धृत करके जिस अखंड विश्वास से वाजपेयी जी ने लिखा कि 'हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियों की लयहीनता बिना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी। उसकी गुजराती के प्रतिष्ठित कवि उमाशंकर जोशी ने स्वसंपादित पत्रिका 'संस्कृति' में कैसी उपयुक्त पूजा की है यह दर्शनीय है। जोशी जी ने उसकी लय को गुजराती-क्रम से स्पष्ट करते हुए टिप्पणी की है-'श्री वाजपेयी 'लयहीनता' शी रीते जुओ छे ते समजवुं मुश्वेल छे' अर्थात वाजपेयी जी को किस प्रकार कविता की उन पंक्तियों में लयहीनता दिखायी देती है यह समझना कठिन है।

हिन्दी की वास्तविक नयी कविता के सम्बन्ध में जिसे आचार्य जी छद्मनामी नयी कविता के कुटिल भ्रमजाल से बचाना चाहते हैं, उनके विचार कितने 'प्रौढ़' और 'प्रांजल' है यह भी जान लेना आवश्यक है। सन् '50 में वाजपेयी जी ने छायावाद की तुलना में प्रयोगवाद को 'व्यंग्य विनोदपूर्ण हल्का काव्य-प्रयत्न' घोषित किया। चार वर्ष तक लगातार सोचने के बाद सन् '54 में उन्हें तत्व-बोध हुआ कि 'पुराने निष्ठावान्' छायावादी कवि और (पंत, निराला आदि) भी 'व्यंग्य-विनोद' की हल्की भूमि पर उतर आये है। दो वर्ष ही और बीत पाये थे कि नयी कविता को उत्तराधिकार-भ्रष्ट सिद्ध करने के आवेश में उन्हें वही पुराने व्यंग्य-विनोद की हल्की भूमि पर उतरे हुए प्रौढ़ और गण्यमान्य कवि ऐसी भिन्न प्रकार की रचनाएँ करते दिखाई देने लगे जिनकी अपनी गरिमा और महत्व है। गण्यमान्यों में पंत जी, दिनकर जी आदि को माना ही जायेगा। पर पंत जी तो वाजपेयी जी के अनुसार 'वादों' से सम्बन्ध हो जाने के कारण 'हिन्दी साहित्य के इस युग की सबसे बड़ी दुर्घटना' के कारक हैं। यद्यपि यह मान्यता भी वाजपेयी जी की ही है कि 'कोई भी काव्य-शैली समाज के श्रेष्ठतम बुद्धिजीवियों का समर्थन और सहयोग प्राप्त करने पर ही वस्तुतः पल्लवित और पुष्पित हो सकती है। अतएव सिद्ध हुआ कि पंत जी 'समाज के श्रेष्ठतम बुद्धि जीवियों में नहीं है, आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी हैं। यह भी हो सकता है कि ऐसे दुर्घटना-कारक पन्त जी, वाजपेयी जी की प्रौढ़ गण्यमान्यों वाली सूची से वहिष्कृत कर दिये गये हों। तब दिनकर जी को हिन्दी की असली नयी कविता का वाहक माना जा सकता है। परन्तु वहाँ भी कठिनाई आड़े आती है। दिनकर जी अपने को हिन्दी नयी कविता का 'अगुआ' न कर 'पिछलगुआ' कहना पसंद करते हैं। संभव है वे संकोचवश ऐसा लिख गये हों और चाहते कुछ भिन्न हों, वाजपेयी जी ने उनके मूलभाव को अपनी अंतर्दृष्टि से परख लिया हो। लेकिन अपने 'चक्रवाल' की भूमिका में तो दिनकर जी छद्मनामी नयी कविता को ही हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास का संवाहक मानते दिखाई देते हैं जिसके नाम से वाजपेयी जी को पाप लगने का

भय होने लगा है। छन्दों की दिशा में नयी कविता द्वारा लाया गया परिर्वतन उनके अंतरंग में कितने गहरे उतर रहा है यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है।

'विशेषतः मुझे यह महसूस हो रहा है कि अब हम जिस युग में जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण यह है कि जैसे छन्दों में काव्य-रचना करने का मैं अभ्यासी रहा था, वे छन्द अब मुझे अधूरे लगने लगा है।'

यदि नरेन्द्र, बच्चन, अंचल के या उन्हीं की सी शैली में लिखी गये घिसे-पिटे अन्य गीतों को वाजपेयी जी नयी कविता मानते हों तो कहना होगा कि वे उस तबके के साथ हैं जिसने P.E.N. के एक अंक में गीतकारों को ही हिन्दी की नयी कविता का प्रतिनिधि बताया है। यदि यह भी नहीं तो शायद वे गुप्त जी की 'विष्णुप्रिया' को हिन्दी की वास्तविक नयी कविता मानते होंगे।

हिन्दी के आलोचकाचार्य नये कृतित्व के मर्म और महत्व को परखने में कितने पीछे रहे हैं और उनकी मनोवृत्ति कितनी अनुदार (Conservative) रही है श्री वाजपेयी जी इसका अभिनव उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस क्षेत्र में वे शुक्ल जी की परम्परा को पूरी तरह आगे बढ़ा रहे हैं, भला कौन इसे स्वीकार नहीं करेगा। इसके बाद भी यदि नये कवि अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए स्वयं कुछ लिखते हैं तो वह आत्म-विज्ञापन या अपराध क्यों माना जाये। आपसे सत्य की मशाल नहीं उठती, मत उठाइये, पर जो अपने अप्रौढ़, अगण्यमान्य, अप्रांजल हाथों से उसे उठाकर ले जाने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं उन पर, तह तक बिना पहुँचे ही तत्वज्ञता का जामा पहन कर कुठाराघात मत कीजिए। 'दृष्टिकोण' ही नहीं नये कवि के पास दृष्टि भी है और वह जामे के भीतर छिपे ऐसे व्यक्तित्वों की गहराई परख लेने में चूकती नहीं। 'नवीनता लाइए पर अपनी विरासत से मुँह न मोड़िए' का उपदेश आधुनिक युग के संदर्भ में अपनी विरासत के गुण-दोष जाँचे बिना न दे डालिए। विरासत अगर है तो औरों की भी उतनी ही है जितनी आपकी। उसे तोड़ने का हमें उतना ही अधिकार है जितना सँवारने का। जिन्होंने किसी मूर्तिकार को कार्य-संलग्न देखा होगा वे इस तथ्य को सरलता से समझ सकेंगे कि अनावश्यक प्रस्तर खंडों को तोड़ना भी मूर्ति का रूप सँवारने की प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। कोई भी सहृदय शिल्पी शिला में अपनी मानस-प्रतिमा के स्वरूप को प्रस्फुटित किये बिना यों ही पाहन पूजते नहीं बैठ जायेगा। नये कवि माननीय संवंदनाओं और सम्बन्धों के उन सम्भावित रूपों और मूल्यों को उपलब्ध करने में संलग्न है जो उनकी कल्पना में आ चुके हैं। जो समीक्षक उनके इस संकल्प को नहीं ग्रहण कर पाता है वह उनको पीड़ा को बनावटी समझता है।

हमें नयी कविता आधुनिक जीवन की सीधी, सच्ची और सहज अभिव्यक्ति दिखायी देती है पर आचार्य जी को वह उलझी हुई, झूठी और कृत्रिम लगती है; हमें प्रतीत होता है कि नयी कविता

युगसापेक्ष रह कर एक सर्वथा नये सन्तुलन को प्राप्त करने में संलग्न है (द्रष्टव्य: नयी कविता, अंक 2) पर आचार्य जी के मत से वह 'अपनी आरोपप्रियता और व्यंग्यमयता के कारण सन्तुलन को खोती जा रही है।' हम क्षण की बात नितान्त समसामयिकता के दायित्व के विचार से, भावुक-निर्लिप्त शाश्वतवादियों के विरूद्ध उठाते हैं पर आचार्य जी उसमें भोगविलासमूलक क्षणवाद के दर्शन करते हैं; हमें लय और छन्द में सूक्ष्म-स्थूल का ही अन्तर मुख्यतया प्रतिभासित होता है पर आचार्य जी को दोनों में इतना गहरा अन्तर्विरोध लक्षित होता है कि वे बलपूर्वक लय-मुक्त पंक्तियों को भी लयहीन घोषित करने लगते है। हम कवि-कर्म को आत्मोपब्धि एवं भावानात्मक आत्मविस्तार का साधन तथा प्रयोंगों को प्रगति का चिह्न मानते हैं, पर आचार्य जी की धारणा है कि यह सब कुछ 'बैठे-ठाले का धंधा है।'..... अतः स्पष्ट-रूप से कहा जा सकता है कि हमारे और वाजपेयी जी के बीच मौलिक मतभेद है। नये कवि स्वतन्त्रचेता होने के कारण विदेशी साहित्य से निस्संकोच प्रभाव ग्रहण करते हैं। (इंडियन पीनल कोड में इसके लिए शायद कोई दफा भी नहीं हैं)। लेकिन उनकी अन्तश्चेतन अपने ही परिवेश से अनुप्राणित हो रही है, इसका प्रमाण यदि कोई चाहे तो, नयी कविता के पिछले अंक में प्रकाशित अज्ञेय की कविताएँ और इसस अंक में विपिन कुमार अग्रवाल की रचनाएँ देख सकता है। विदेश में लिखी जाने वाली इन रचनाओं के भीतर इस देश का ही आत्मीय स्वर व्यक्त हुआ है। पर जो पूर्वग्रहवश, वस्तु को परखे बिना ही, मत बना ले या उसे सही तौर पर परखना ही न चाहे, उसके लिए कोई भी प्रमाण देना वृथा है। अतएव पुनः-

आचार्य-श्री चरणयोः शिरसा नमामि।

(इस पंक्ति से आचार्य जी निश्चय ही प्रसन्न होंगे क्योंकि इसमें लय और छन्द दोनों है साथ ही कोई अन्तर्विरोध भी नहीं, नयी कविता तो यहाँ बिल्कुल ही नहीं है)।

❖

रसानुभूति और सह-अनुभूति

नयी कविता जीवन को एक विशेष प्रकार से देखती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृत्या यह दृष्टि ऋषि-दृष्टि है। इस स्थापना का अभिप्राय यह नहीं है कि नयी कविता के कवि, कवि न होकर ऋषि है। यहाँ ऋषि-दृष्टि से तात्पर्य उस निर्भीक सत्यान्वेषी दृष्टि से है जो सुन्दर असुन्दर, मधुर-तिक्त, रूचिर-कटु सरल-जटिल, बहिरंतर वैविध्यमय एवं अनेकमुखी जीवन को समग्र रूप में स्वीकार करते हुए वास्तविकता को विवेकयुक्त तटस्थ भाव से देखती है। ऐसी दृष्टि सकदेशीय न होकर सार्वभौमिक होती है। किसी नये तथ्य या अर्थ के उपलब्ध होने पर वह उससे अभिभूत तो होती

है पर आच्छन्न नहीं। उसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह बड़ी से बड़ी अनुभूति को प्रगाढ़ आत्मविश्वास के साथ, बिना अपने व्यक्तित्व को बिखराये या विचलित-प्रज्ञ हुए धारण करने की क्षमता रखती है। वह केवल 'दृष्टि' ही न होकर तथ्य तक पहुँचाने की विधा भी है जिसकी प्राप्ति गहरे आत्ममंथन और अनुभव की परिपक्वता के बाद होती है। नयी कविता भी ऐसी ही विधा में विश्वास रखती है जो प्रज्ञा को विचलित किये बिना विवेक की जाग्रत अवस्था में भावक को यथार्थ अनुभूति के तल तक पहुँचा देने की क्षमता रखती हो। यह विधा काव्य-शास्त्रोक्त 'रसानुभूति' से नयी कविता की भावानुभूति को मूलतः पृथक कर देती है। 'रसानुभूति' के समक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है कवि और भावक दोनों के व्यक्तित्वों के सह-अस्तित्व में अनुभूति की प्रेषणीयता संभव होने के कारण इसे 'सह-अनुभूति' कहना न निराधार है, न अनुपयुक्त।

'सह-अनुभूति' का स्वरूप तब स्पष्ट हो सकता है जब पहले रसानुभूति की प्रकृति को परख लिया जाये और तभी दोनों का अन्तर भी समझ में आ सकता है। हिन्दी में कम ही ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने रसात्मक अनुभूति के स्वरूप और स्वभाव को लेकर गंभीर चिंतन किया हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अवश्य इस सम्बन्ध में गहराई के साथ विचार किया था अतएव उनके निष्कर्ष उल्लेखनीय है। शुक्ल जी ने रसानुभूति के दो लक्षण बताये है।

1. अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार।
2. किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उसे
आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी का उदय।

रस-प्रक्रिया के अन्तर्गत घटित होने वाले 'व्यक्तित्व के परिहार पर शुक्ल जी ने बहुत अधिक बल दिया है, क्योंकि वही पहली शर्त है रसानुभूति की, साथ ही उसकी एक कसौटी भी। साधारणीकरण उसके बिना कदापि संभव नहीं है। पर शुक्ल जी ऐसी भाव-स्थिति से भी अवगत थे जिसमें अनुभूति व्यक्तित्व का परिहार घटित हुए बिना भी संभव होती है। 'व्यक्तित्व का सम्बन्ध जितना घनिष्ठ होकर अन्तःकरण में स्फुट रहेगा अनुभूति उतनी ही रस कोटि के बाहर रहेगी' यह उनकी सुविचारित मान्यता है। ऐसी अनुभूति को वे अधिक से अधिक रस के किनारे तक पहुँची हुई मानते हैं। भारतीय साधारणीकरण के साथ पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति को रस की एक नीची अवस्था, मध्यम कोटि की रस दशा, बताया है। (शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति जिसे आचार्यो ने रस कहा है, दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता

सम्हाले रहता है; द्वितीय में अपनी पृथक सत्ता कुछ क्षणों के लिए विर्सजन कर, आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।) कारण यह है कि उनके मत से 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।' इस उदात्त और अवदात्त अनुभूति के आस्वाद को ही आनन्दात्मक कहा जाता है जिसकी उपलब्धि में पुनः 'व्यक्तित्व' बाधक होता है। और शुक्ल जी को 'आनन्द' शब्द की, व्यक्तिगत सुखोपभोग के स्थल अर्थ से भिन्न, एक नयी परिभाषा देनी पड़ती है जिसमें 'हृदय का व्यक्तिबद्ध सुखोपभोग के स्थल अर्थ से भिन्न, एक नयी परिभाषा देनी पड़ती है जिसमें हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना' अनिवार्य है। जुगुप्सा, भयंकरता आदि प्रतिकूल-वेदनीय भाव किस प्रकार रसानुभूति में परिणत होंगे इस विषय में संस्कृत के आचार्यों के प्राचीन परम्परागत तर्कों से अलग हट कर स्वकीय दृष्टि से उन्होंने एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की और वह यह कि 'जब हम किसी वस्तु की भयंकरता को, अपना ध्यान छोड़ लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रस-भूमि की सीमा के भीतर पहुँचेंगे, और इस प्रकार 'घृणित आचरण वाले के प्रति' उत्पन्न, हमारी जुगुप्सा भी रसमयी होगी। यह व्याख्या कुछ अंशों में रसानुभूति के पूर्वोक्त स्वरूप के विरूद्ध पड़ती है क्योंकि 'हम' और 'लोक' दोनों का समावेश शुद्ध अनुभूति की 'व्यक्तित्वहीनता' तथा अलौकिकता' को मर्यादित करता है। रसानुभूति में जब व्यक्तित्व का ही परिहार हो जायेगा तो हम और हमारा लोक यह कैसे स्थिति रह सकेगा। पर शुक्ल जी 'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' को ही रस-दशा मानते हैं। यह मौलिक कठिनाई है। इसी को पहचानते हुए शास्त्रकारों द्वारा रसानुभूति के लिए कल्पना प्रसूत आदर्श वातावरण की आवश्यकता अनिवार्य रूप से बतायी जाती रही है। इसीलिए विभाव-पक्ष को निश्चित शक्ति देने का आग्रह किया गया और तत्कालीन समाज की धारणा, के अनुरूप नायक-नायिका को श्रेष्ठ जाति, वंश, रूप, शील, गुण, आदि से विभूषित करके एक 'पैटर्न' खड़ा किया गया। आधुनिक चेतना तथा नये सामाजिक परिवेश ने इस 'पैटर्न' को तोड़ दिया और रसानुभूति की बँधी बँधाई पद्धति बिखर गयी। विभाव-पक्ष के आदर्शीकरण की सीमा को शुक्ल जी भी मानते हैं और दुःशील कुरूप पात्र के प्रति अनुराग को वे रस-क्षेत्र से बाहर बताते हैं। रस-क्षेत्र के बाहर वह भले ही हों पर जीवन के बाहर तो नहीं कहा जा सकता। आधुनिक साहित्य की व्यापक मानवीय दृष्टि ने रसानुभूति के इस रूढ़िबद्ध, सीमित रूप को पूरे आवेग के साथ उद्घाटित कर दिया है साथ ही आत्मीयता एवं संवेदना के प्रसार से, जो सह-अनुभूति का कार्य है, उस अवकाश (Gap) को भी भर दिया है जिसके कारण ऐसे आदर्शवादी साहित्यशास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार रसानुभूति की अपेक्षा, सह-अनुभूति अधिक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित दिखायी देती है। आत्म-विलयन, आनन्द और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी, परन्तु मानवीयता के विचार से 'सह-अनुभूति' को उससे उत्कृष्टतटर मानना ही विवेक संगत

दिखायी देता है। शुक्ल जी ने एक तो 'व्यक्तिवादी भावना' और व्यक्तित्व निष्ठ अनुभूति' के बीच के अन्तर को लक्षित नहीं किया, दूसरे उन्होंने इस पर भी विचार नहीं किया कि मध्यम कोटि की होने पर क्यों वह भिन्न प्रकार की अनुभूति आधुनिक साहित्य का अधिकाधिक धारक-तत्व बनती जा रही है। इसके गहरे कारणों पर यदि उनकी दृष्टि गयी होती तो अपने कोटि-क्रम को स्वयं सिद्धमान कर वह समस्त व्यक्तित्वनिष्ठ साहित्य को 'नवीनता के प्रति आकुलता मात्र' का पर्याय न बता देते और न उसे 'नकली हृदय' की ही उपज घोषित कर देते। शुक्ल जी ने अपने रस-विवेचन में आधुनिक साहित्य के पीछे एक प्रधान प्रेरक शक्ति के रूप में निहित हृदय की गहरी सच्चाई की उपेक्षा की है फलतः उनके सिद्धान्त मध्यमकालीन साहित्य पर अधिक लागू होते हैं आधुनिक पर कम।

काव्य की समस्त मध्यकालीन परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ कवि के व्यक्तितव की पूर्ण उपेक्षा करती हैं। उनमें से एक में भी आवश्यक तत्व के रूप में कवि व्यक्तित्व को मान्यता प्रदान नहीं की गयी है। इसीलिए कुछ सशक्त अपवादों को छोड़कर अधिकांश मध्यकालीन काव्य स्वभावतः निर्वैयक्तिक दिखायी देता है। हिन्दी में सही अर्थ में व्यक्तित्व सम्पन्न कविता का उदय आधुनिक काल में ही आकर होता है। कवि अपने, को अपने अनुभूति शील व्यक्तित्व को, कभी वस्तुपरक (Objective) उपादानों के माध्यम से व्यक्त करता है कभी सीधे आत्मपरक (Subjcetive) रूप में। सारा का सारा आत्मपरक काव्य, जिसमें कथ्य की यथर्थाता और व्यक्तिसापेक्षता अनिवार्य रूप में समाविष्ट रहती है, रसानुभूति के स्तर पर ग्रहण नहीं किया जा सकता। कविता का एक बहुत बड़ा भाग बिना व्याख्या के छूट जाता है और उसे अमहत्वपूर्ण कर कर टालना भी कठिन है। 'रस-दृष्टि ही समग्र काव्य-दृष्टि नहीं है' डॉ0 राम खेलावन पाण्डेय का यह कथन यथार्थ ही है। 'ग्राम्या' का कवि रसोद्रेक कराने के लिए ग्राम्य-जीवन का चित्रण करता प्रतीत नहीं होता। वह पाठक के हृदय में ग्रामीणों की चिन्त्य दशा के प्रति वह भाव और वैसी संवेदना उत्पन्न करना चाहता है जैसी उसके अपने हृदय में हुई यह संवेदना नाटकीय न होकर वास्तविक है और वास्तविकता के स्तर पर उसे न लेना कवि के प्रति अन्याय होगा साथ ही उसके अंतर्निहित अभिप्राय की उपेक्षा भी। अतः जिस स्तर पर उसका काव्यात्मक प्रभाव उपयुक्त भावक के मन पर पड़ेगा वह सह-अनुभूति का स्तर होगा रसानुभूति का नहीं। यथार्थ परिवेश को न कवि स्वयं भूलना चाहता है न दूसरे को भुलाने देना चाहता है। नयी कविता छायावाद की रहस्योन्मुख्ता, प्रगतिवाद की राजनैतिकता और कुछ अंशों में प्रयोगवाद की अतिवादिता के आग्रह से भी क्रमशः मुक्तिलाभ करती हुई अपने व्यक्ति-सापेक्ष सामाजिक परिवेश में सहज माननीय अनुभूतियों को अधिकाधिक सच्चाई के साथ व्यक्त करने में व्यस्त है।

सह-अनुभूति के स्तर पर लिखी गयी कविता रसानुभूति के स्तर पर लिखी गयी कविता के अपेक्षा कवि से भिन्न प्रकार के कवि-कर्म की माँग करती है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि 'रसानुभूति' को जहाँ केवल भाव-विस्तार ही अभीष्ट रहता है वहाँ सह-अनुभूति के लिए भाव और दृष्टिकोण दोनों का विस्तार अपेक्षित है। मराठी चिंतक श्री नरहरि वेडेकर ने रस-प्रसंग में प्रयुक्त 'भाव' शब्द को साधारण 'भाव' से, प्रामाणिक आधार पर, पृथक सिद्ध करके काव्य-विवेचन के क्षेत्र में एक अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। 'नाट्य भाव' और 'सामान्य भाव' का अन्तर सूक्ष्म विचार से ही ग्रहीत हो सकता है। सामान्य भाव वास्तव में दैनन्दिन यथार्थ संदर्भ से युक्त भाव है, जबकि नाट्य भाव उस संदर्भ में विच्छिन्न कवि-कल्पित वातावरण के अनुरूप् सहृदय को रसमग्न करने के उद्देश्य से चेष्टापूर्वक प्रदर्शित अभिनयात्मक भाव है। दृश्यकाव्य में नाट्यकार और अभिनेता के व्यक्तित्व पृथक होने के कारण कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जब रस सिद्धान्त ने श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी। कवि में ही अभिनेता का व्यक्तित्व समाहित हो गया और उसने सच्चे स्वानुभूत भावों की अभिव्यक्ति के स्थान पर किसी रूढ़ विषयवस्तु का आश्रय लेकर परिपाटीबद्ध शैली में कुछ निश्चित भावों का अभिनय आरंभ कर दिया। बहुधा वह सफल भी हुआ पर धीरे-धीरे रसानुभूति उत्पन्न करने के लोभ में अपने भीतर के सत्य को उपेक्षित करते-करते वह स्वारोपित अभिनेता से पूर्णतया पराजित हो गया, हिन्दी कविता रीतिकाल के अंत तक आते-आते सर्वथा निर्जीव हो गयी। भक्ति काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रधान और रीति-पक्ष गौण रहने के कारण स्थिति भिन्न थी, अतः अनेक महान् कवि उत्पन्न हो सके परन्तु बाद में उसकी भी एक रूढ़ि बन गयी। कवि-कर्म इतना कुंठित हुआ कि एक कवि को कहना पड़ा 'लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है'। कुछ ऐसी ही बात आज भी कही जाने लगी है पर दोनों स्थितियों में बड़ा अन्तर है। उस समय यह स्थिति अतिशय रूढ़िबद्धता के कारण उत्पन्न हुई थी पर आज उसका कारण अतिशय रूढ़िहीनता है। कोई समझदार कवि नयी कविता द्वारा संघर्ष पूर्वक अर्जित रूढ़िहीनता का दुरूपयोग नहीं करेगा, क्योंकि कविता को पूर्ववर्ती स्थिति से अधिक सशक्त बनाना ही उसका लक्ष्य रहा है। लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बहुत सी सशक्त बनाना ही उसका लक्ष्य रहा है। लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बहुत सी सशक्त कविताओं के साथ पत्र-पत्रिकाओं में आये दिन ऐसा कुछ भी प्रकाशित होता रहता है जिसे कविता मानना ही कठिन है। यह सब देखकर नवीन प्रतिभा का सदा स्वागत करने वाले माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवि-विचारक भी चिन्तित हो उठते हैं। यद्यपि गंतव्य के सम्बन्ध में उनकी बहुत सी चिंता अनावश्यक है फिर भी वह यह कथन कि 'कविता कविता से ही जी चुराने लग गयी है। सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। नयी कविता की नाम पर हास्यास्पद निर्जीव शब्द-जाल खड़ा करना वास्तविक कवि-कर्म की उपेक्षा, अनभिज्ञता तथा प्रतिभाहीनता का ही लक्षण माना जायेगा। काव्य-प्रकाशकार कवित्व-शक्ति तथा प्रभावहीनता

का ही लक्षण माना जायेगा। काव्य-प्रकाशकार का कवित्व-शक्ति विषयक अभिमत आज भी विस्मरणीय नहीं है। नयी कविता जीवन की गंभीरता को वहन करने में किसी प्रकार भी पूर्व परिचित काव्य-रूपों से हीन नहीं है प्रत्युत वह मनुष्य के सहज अनुभूतिशील एवं वास्तविक व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में अधिक सक्षम है, अपनी रचनाओं से इसकी प्रतीति करा देना आज के कवि-कर्म की सर्व प्रमुख आवश्यकता है। इसके लिए वह शैली और शिल्प के क्षेत्र में कैसे और कौन से प्रयोग करता है इसका आकलन अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय है। पाठक या श्रोता की मानसिक प्रक्रिया की उपेक्षा करके कोई प्रयोग सफल नहीं हो सकता अतएव वह प्रयोगशीलता जो ऐसा आधार लेकर चलेगी कवि-कर्म को पंगु ही बनायेगी।

नयी कविता के द्वारा हिन्दी काव्य को वह व्यतित्व-सम्पन्न दृष्टि मिली है जो ईमानदारी के साथ यथार्थ जीवन को उसके सहज रूप से गहराई से देखने की प्रेरणा देती है। रचना के क्षेत्र में नयी कविता अभी प्रयत्न-तत्पर और श्रम-संलग्न है अतएव उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन अभी से पूरी तरह निश्चित करना संभव नहीं है परन्तु जिस पथ का सौ सौ कटूक्तियाँ सह कर उसने निर्माण किया है वह उसे किसी महत्वपूर्ण गन्तव्य तक अवश्य ले जायेगा क्योंकि उस पर चलने और सतत बढ़ते जाने की उसकी आस्था आडिग और अटूट है। युग की आवश्यकताओं के प्रति सजग विचारवान् व्यक्ति को कदाचित् कहना पड़ेगा—

'नान्यः पंथा विद्यते'

❖

नये कवि का व्यक्तित्व और अज्ञेय जी

नयी कविता के नाम से पिछले दशक में जो कुछ भी प्रकाशित हुआ है उससे एक बात विशेष रूप से स्पष्ट हुई है कि नया कवि न केवल तथाकथित 'व्यक्तित्व की खोज' (quest for personality) में व्यस्त रहा है वरन् उसका अपना भी एक व्यक्तित्व है जो उसने इसी बीच संघर्षपूर्वक अर्जित किया है तथा जिसका स्वरूप नयी कविता में उत्तरोत्तर प्रस्फुटित एवं स्पष्ट होता जा रहा है। नये कवि के इस निजी व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं की ओर दृष्टिपात् करना आवश्यक है, क्योंकि उससे नयी कविता के विषय में फैली हुई बहुत-सी भ्रान्तियों एवं उलझनों के निराकरण की संभावना है।

नये कवि की दृष्टि स्वभावतः सार्वभौमिक है। देश, भाषा, धर्म तथा जातीयता के विभेद उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं है और न उसके आधार पर वह अनुप्रेरित होता है। अपने देश, अपनी भाषा और अपने साहित्य के प्रति सम्मान एवं स्नेह की भावना उसे मनुष्य मात्र की एकता और साहित्य मात्र की

अखण्डता की प्रतीति से विरत नहीं करती। इनकी एकात्म भाव-स्थिति उसके लिए प्रेरक सिद्ध होती है। जहाँ दोनों का विरोध होता है। वहाँ वह संकीर्णता और परिधिमूलकता के स्थान पर उदारता और व्यापकता का वरण करता है। अनुभूति के क्षेत्र में उसका आग्रह सच्चाई और ईमानदारी पर विशेष है तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में निर्जीव रूढ़िगत शैली-शिल्प का परित्याग करके वह अनुभूत काव्य-वस्तु तथा उसके अभिव्यक्ति रूप के बीच आन्तरिक संवेदना-सूत्रों पर आधारित अधिकाधिक निकटता एवं सहजता लाने की चेष्टा करता है। यह दोनों वस्तुएँ उसके सौंदर्य-बोध का अनिवार्य अंग है। संवेदना की मानवीयता तथा मानव मूल्यों के प्रति सतत जागरूकता उसके स्वभाव में निहित हो गयी है।नैतिकता-अनैतिकता, औचित्य-अनौचित्य, सार्थकता-निरर्थकता आदि के प्रश्नों पर समाजिक पक्ष से विचार करने के साथ-साथ व्यक्ति-पक्ष की अनिवार्य अपेक्षा का भी अनुभव वह करता है और वहीं-वहीं उसमें व्यक्तिगत अनभूति पर विशेष आग्रह भी लक्षित होता है। वस्तु जगत के प्रति रोमांटिक तारल्य के स्थान पर अपने परिवेश के प्रति सजगता और यथार्थ की मुक्त स्वीकृति से युक्त संयत संवेदना, वह भी एक आन्तरिक व्यवस्था और मर्यादा के साथ, उसमें अधिकतर मिलती है। किसी दार्शनिक विचार-पद्धति में अपने को न बाँधकर अथवा किसी राजनैतिक पूर्वग्रह के साथ जीवन को न देखकर वह उसे अपनी वैचारिक स्वतन्त्रता की यथासंभव रक्षा करते हुए, ग्रहण करना श्रेयस्कर समझता है। विविध व्याख्याओं के तल में प्रवाहित जीवन-शक्ति के सहज शुद्ध रूप तक पहुँच कर नये संदर्भ में उसको पुर्नप्रतिष्ठित करने की व्यग्रता उसमें सर्वाधिक मात्रा में मिलती है। मानव के सहज स्वाभिमानी व्यक्तित्व को प्रच्छन्न, विकृत तथा कलंकित करने वाले बहु-मान्य और दृढ़िभूत सिद्धान्तों या उपकरणों के प्रति व्यंग्य एवं विद्रोह करने की शक्ति उसमें सर्वोपरि दिखायी देती है। यह विद्रोह-वृत्ति एवं व्यंग्य-सामर्थ्य भले ही सब नये कवियों में एक जैसी मात्रा में न मिले, परन्तु नये कवि के सामान्य व्यक्तित्व में वह एक मौलिक-तत्व की तरह समाविष्ट है तथा उसे गति देने एवं सक्रिय बनाये रखने में सबसे अधिक सहायक रही है।

इस संदर्भ में नये कवि को लक्षित करके लिखी गयी तथा उसके रूप को व्यक्त करने वाली अज्ञेय जी की कविताओं, जो पहले 'कल्पना' के दो अंको में प्रकाशित हुई तथा बाद में उनकी नवीनता काव्य-कृति 'अरी ओ करूणा प्रभामय' के 'रोपयित्री' खंड में समाविष्ट कर ली गयीं, की ओर दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है। यह इसलिए कि इन कविताओं का स्वर मार्मिक है, मर्मस्थल का स्पर्श से उद्भूत है और नये कवि के मर्म पर गहरा आघात भी करता है। कुल मिलाकर इस स्वर में, विशेषतः उसमें जो 'नये कवि से' अथवा 'नये कवि के प्रति' शीर्षक कविता से फूटता है, कुछ ऐसा तत्व है जिससे इतने समय तक लगातार प्रयत्न करने के उपरान्त भी मैं आज तक मानसिक संगति नहीं बैठा पाया हूँ। मैं अज्ञेय जी को 'आचार्य-श्री' की तरह केवल 'प्रयोगवाद का पुरोहित' मात्र कहकर मुक्त नहीं हो

सकता। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि 'नयी कविता' और 'नये कवि' के स्वरूप-संगठन एवं शक्ति-संचय में उनका अद्वितीय योग रहा है। 'आत्मने पद' से उनके मानसिक संघर्ष का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे स्वयं भले ही कहें कि नयी कविता ने द्विवेदी युग के गुप्त जी और छायावाद के 'निराला' की तरह कोई 'शलाका पुरूष' पैदा नहीं किया परन्तु मैं उन्हें निस्संकोच नयी कविता का 'शलाका पुरूष' कह सकता हूँ। उन्होंने, विदेशी प्रभावों को सजगतापूर्वक गम्भीर चिंतन एवं अनुभूति के साथ आत्मसात् करते हुए, हिन्दी कविता को एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ने का यत्न किया। आज की नयी कविता जिस दिशा में गतिशील है वह उनके प्रयत्न से निर्दिष्ट दिशा से मूलतः भिन्न नहीं है, हाँ, विकास के स्तर, क्रम, क्षेत्र और दृष्टिकोण में अवश्य कुछ अन्तर आ गया है जो स्वाभाविक भी है क्योंकि कोई भी जीवन्त साहित्यिक धारा किसी व्यक्ति विशेष की सीमा में निरूद्ध होकर नहीं रह सकती। धारा का अस्तित्व जितना ही पृथक् और प्रवेगमय होता जाता है उसे मोड़ने वाले व्यक्तियों के प्रयत्न उतनी ही कृतार्थता एवं सार्थकता उपलब्ध करते जाते हैं। यह कल्पना कि तपस्या-बल से विवश गंगा एक ही भगीरथ के पीछे चलते-चलते सागर तक पहुँच गयीं, पौराणिक सत्य भले ही हो परन्तु साहित्य का सत्य नहीं ही है क्योंकि न जाने कितने भगीरथ इसके अवतरण में पहले ही खप चुके हैं और आगे कितने खपते जायेंगें यह ज्ञात नहीं। फिर इसे जिस सागर में मिलना है वह भी मानव मन से पृथक् कहीं और अपनी सत्ता नहीं रखता।

पूर्व निर्दिष्ट कविता में 'नये कवि' को आवाहन के साथ संशोधित करते हुए अज्ञेय जी ने जो कुछ लिखा है उसका आदि-अंत इस प्रकार है-

आ, तू आ,

हाँ, आ,

मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,

मिटाता उसे,

मुझे मुँह भर-भर गाली देता-

आ**, तू आ।**

....

....

पर आ तू,

सभी कहीं सब चिह्न रौंदता

अपने से आगे जाने वाले के

आ, तू आ,

रखता पैरों पर पैर,

गालियाँ देता,

ठोकर मार मिटाता अनगढ़

(और अवांछित रखे गये !) इन

मर्यादा-चिह्नों को

आ, तू आ।

आ तू,

दर्पस्फीत जयी !

मेरी तो

तुझे पीठ ही दीखेगी क्या करूँ कि मैं आगे हूँ

और देखता भी आगे की ओर।

पाँवड़े

मैंने नहीं बिछाये वे तो तभी, वहीं

बिछ सकते हैं प्रशस्त हो मार्ग जहाँ पर।

आता जा तू,

कहता जा जो जी आवेः

मैं चला नहीं था पथ पर,

पर मैं चला इसी से

तुझको बीयड़ में भी ये पद-चिह्न मिले हैं,

काँटों पर ये एकोन्मुख संकेत लहू के,

बालू की यह लिखत, मिटाने में ही

जिसको फिर से तू लिख देगा।

आ तू, आ,

हाँ, आ,

मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर,

जयी, युगनेता, पथ-प्रवर्तक,

आ तू आ-

ओ गतानुगामी !

कविता का अभिप्राय, सार, तात्पर्य अथवा उद्देश्य जो भी संज्ञा उसे दी जाये सर्वथा स्पष्ट है। मैं इसे वर्तमान संदर्भ से विच्छिन्न करके नये-पुराने के शाश्वत संघर्ष के रूप में नहीं देख पाता, यह मेरी मजबूरी है। कवि ने यद्यपि कविता के बीच में एक स्थल पर कहा है कि 'तू जो भी कह, आक्रोश नहीं मुझको' परन्तु 'पथ-प्रवर्तक' के साथ 'गतानुगामी' 'युगनेता' के साथ 'गाली देता' और 'जयी' के साथ 'दर्पस्फीत' को मिलाकर देखने पर यह प्रकट हो जाता है कि कवि केवल व्यंग्य ही नहीं कर रहा है वरन् उसके पीछे वह 'आक्रोश' भी निहित है जिसका शाब्दिक निषेध करना उसका आत्मगौरव की रक्षा के लिए आवश्यक प्रतीत हुआ। यह कविता किसी बाहर के नये कवि को सम्बोधित करके न लिखी जाकर स्वयं अपने भीतर निहित नये कवि के प्रति लिखी गयी है, ऐसा भाई सर्वेश्वर ने यह कह कर समझना चाहा कि इसे इस तरह की अन्य दोनों कविताओं से मिलाकर ही देखना उचित होगा। मुझे खेद है कि मिलाकर देखने पर भी मैं उनके कथन से सहमत नहीं हो पाया हूँ। मेरी दृष्टि में इस कविता का लेखन एवं प्रकाशन नयी कविता के वर्तमान विकास-क्रम में घटित होने वाली एक नितान्त अनुपेक्षणीय घटना है क्योंकि इसमें नये कवि मात्र के स्वाभिमान पर सदा-सदा के लिए सगर्व चोट की गयी है, वह भी उसके द्वारा जिसे न केवल नयी कविता के अधिष्ठित प्रवक्ता होने का गौरव प्राप्त है

वरन् जो एक ओर कविता को 'अहं के विलयन का साधन' मानता है तथा दूसरी ओर दुनिया को यह स्मरण दिलाना नहीं भूलता कि प्रचलित कविता के लिए 'नयी कविता' नाम सबसे पहले उसी ने सुझाया था।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि 'तीसरा सप्तक' के 'संलग्नकर्ता और सम्पादक' 'अज्ञेय' द्वारा लिखित उसकी 'भूमिका' में जो विचार 'नयी कविता' और 'नये कवि' के विषय में व्यक्त किये गये हैं उनसे न केवल इस कविता का स्वर टकराता है वरन् कुछ अंशों तक उनका खंडन भी करता है। इस सप्तक के कवियों के लिए लेखक ने 'नये' विशेषण का प्रयोग अकुण्ठित भाव से किया है तथा उसका 'कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेरणा से काट कर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प-दृष्टि उसे मिली है; यह दूसरी बात है कि वह सब में एक-सी गहरी न हो......' अभिमत नये कवि के प्रति एक आशंसायुक्त विश्वास व्यक्त करता है। उसकी यह धारणा कि 'निस्संदेह जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है वह भाषा सम्बन्धी प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है-बल्कि ऐसा करने को अनुचित मानती है' भी नयी कविता और नये कवि की कृतित्वहीनता के बोध से उत्पन्न नहीं है, जिसकी आग्रहपूर्ण उद्घोषणा उसके द्वारा प्रस्तुत कविता में की गयी है।

इस कविता की जैसी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी वैसी ही हुई। समस्त नवोदित नये कवियों के स्वाभिमान को इससे ठेस लगी और जब 'नये कवि का वक्तव्य रूप में प्रतिपाद का एक साहसी स्वर विवश होकर फूट पड़ा तो जिन्हें ठेस लगी थी उन्हें कुछ सन्तोष होना भी स्वाभाविक ही था। प्रतिवाद में निहित आक्रोश और निषेध मुझे उतना ही निरर्थक लगा जितना वह अज्ञेय जी की कविता में लगा था, परन्तु नये कवि के दुःख से मैं भी दुखी हुआ। राजेन्द्र किशोर की ओर से प्रस्तुत 'वक्तव्य' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हमें प्रतीक्षा न थी तुम्हारे आवाहन की

हम आये आवाहन के पूर्व ही

नये भिन्न पथ से, जो तुम्हें अज्ञात था

हमने नहीं रक्खे चरण तुम्हारे पद-चिह्नों पर

हमने तुम्हे गाली नहीं दी,

तुम्हें खंडित नहीं किया;

....

आह ! यह हमारा दोष नहीं था

कि सूर्य की तरह अभिमानी होकर भी

तुम असमय अस्त हो गये।

हमें आहूत करने वाले पितर !

(कैसी विडम्बना है सम्बोधन की !)

सुनो, हम दुखित हैं।

यदि यह सब कुछ किसी नये कवि द्वारा स्वतः बिना चोट खाये हुए कहा गया होता तो मैं उसे अवज्ञा करने का अपराधी मानता और मेरी कोई सहानुभूति उसके साथ न होती परन्तु पूर्व-पीठिका को देखते हुए मैं यहाँ यह कहने की स्थिति में नहीं हूँ कि उसने कोई अनुचित कार्य किया है। प्रतिवाद के स्वर से मुझे यह लगा कि नया कवि और उसके द्वारा लिखित नयी कविता दोनों ही निस्तेज नहीं है।

इस प्रतिवाद के साथ ही दो पत्र और प्रकाशित हुए। उनमें भी नये कवि से ही सहानुभूति व्यक्त की गयी है।

जब यह बात एक बार सामने आ ही गयी कि अज्ञेय जी को 'नये कवि से' कविता को उनकी 'नया कवि: आत्मस्वीकार तथा 'नया कवि: आत्मोपदेश' के साथ रखकर देखना ही उचित है तो वैसा न करना लेखक के प्रति अन्याय होगा। किसी के प्रति अन्याय करने का मेरा कोई भाव नहीं है, अतएव मैं उन कविताओं के कथ्य को भी प्रस्तुत किये देते हूँ। 'आत्म स्वीकार' वाली कविता नये कवि की निजी संवेदना, सौन्दर्य बोध और रचना-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है तथा उसमें उसकी अन्वेषणप्रियता एवं प्रयोगशीलता का पक्ष लेकर पाठक से उसके कृतित्व को सद्भावपूर्वक ग्रहण करने की अपील की गयी है। सारी कविता में नये कवि पर कहीं भी व्यंग्य नहीं किया गया है, अतएव पूर्वचर्चित कविता से इसका कोई साहचर्य प्रतीत नहीं होता, साथ ही इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके आधार पर बलपूर्वक पहली कविता के व्यग्यार्थ को सर्वथा नकार दिया जाये। 'आत्मोपदेश' वाली कविता अवश्य सूक्ष्मता से देखने योग्य हैं क्योंकि पहली कविता को भी आत्मोपदेशपरक ही बताने का यत्न किया गया है। इसमें कवि अपने को विशेष रूप से गंभीर स्तर पर रखकर अपने से ही अथवा अपने बहाने औरों से भी, कुछ ऐसी बातें कहना चाहता है जिन्हें व्यापक जीवनानुभव एवं आत्ममंथन से उसने प्राप्त किया है। उदाहरणार्थ वह नये कवि को अनुभूति से न डरने की सलाह देता

है; उसके दर्द का पाखंड करने से उसे वारित करना चाहता है; त्वचा की कँपकँपी से उत्पन्न स्पंदनों का झूठ आभास अपने को दिखाने की उतावली करने से टोकता है; गैर को मत कोंच तू पहचान। अपनापन की नेकनीयती सिखाता है; सुलभ जय सोचकर साहसिक न बनने की राय देता है; अपने नयन मत मूँद का उपदेश करता है; ढीठ की मत डींग भर, तपस्या कर का निर्देश दे डालता है, प्राण, रस से भर, व्याप्त मानव मात्र में जो अभिप्राय, तू न उससे टूट, भीड़ का मत हो आदि उद्‌बोधनात्मक वाक्य कहता है तथा अन्त में लोक कल्याण की भावना के साथ गन्तव्य का संकेत भी दे देता है। बिल्कुल अन्त की कुछ पंक्तियाँ मैं तद्‌वत उद्धृत कर देना चाहता हूँ—

राह जिसकी है उसी की है।

कगारे काट, पत्थर तोड़,

रोड़ी कूट, तू पथ बना, लेकिन

प्रकट हो जब जिसे आना है

तू चुपचाप रस्ता छोड़ः

मुदित-मन वार दे दो फूल,

उसे आगे गुजरने दे।

मैं यह चाहता हूँ कि इन पंक्तियों को फिर पढ़ूं और फिर पढ़ूं तब तक पढ़ता जाऊँ जब तक पहली कविता विस्मृत न हो जाये; पर चाहा हुआ सदा होता कहाँ है। पहली कविता मुझे इसके अनेक पारायण करने के बाद भी विस्मृत नहीं हो पाती क्योंकि उसमें न तो चुपचाप रास्ता छोड़ने की बात कही गयी है और न नये कवि को आगे से गुजरता हुआ देखकर मुदित-मन दो फूल वार देने का उदात्त संकल्प ही दिखायी देता है, यदि कुछ है तो केवल यही कि नया कवि जिसे उनकी गतानुगामिता को विनम्रतापूर्वक शिरोधार्य करना चाहिये, बिना तपस्या किये अपने को 'दर्पस्फीत जयी' क्यों अनुभव करता है। यदि मन वास्तव में मुदित होता तो आक्रोश की विषाक्त काली छाया पहली को अच्छादित किये हुए दिखायी न देती। हाँ, इस आत्मोपदेश वाली कविता में प्रयुक्त 'तू' और नये कवि के लिए पहली कविता में प्रयुक्त तू की 'टोन' में लक्षित योग्य अन्तर होते हुए भी दोनों को परस्पर कहीं न कहीं सम्बद्ध मानना ही होगा और वह सम्बन्ध है आत्मीयता का। मैं यह कहना चाहता हूँ कि तीसरी कविता में 'तू' के साथ जो आत्मीय भाव है उसी ने एक विशेष मनःस्थिति में कवि को नये कवि के प्रति आक्रोश प्रकट करने के लिए बाध्य किया। नया कवि उस मनःस्थिति से सहज एकात्म्य का

अनुभव नहीं कर पा रहा है परन्तु उसके पीछे झलकती हुई आत्मीयता का मूल्य वह भली प्रकार पहचानता है। प्रसाद जी की पक्ति है 'और क्रोध होता है उस पर जिससे कुछ नाता है।' मैं अज्ञेय जी के आदेश से अधिक महत्वपूर्ण नये कवि के प्रति उनके आत्मीयता के नाते को मानता हूँ तथा उनके आक्षेपों के औचित्य को पूर्णतया न स्वीकार करते हुए भी समझता हूँ कि नये कवि से खुलकर साफ-साफ अपनी बात, मनमाने ढंग से कहना उनका अधिकार है। नये कवि के लिए भी, अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, उनके द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों के परिप्रेक्ष्य में अपने कृतित्व एवं व्यक्तित्व के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता है। मैं पहली कविता के आत्मोदेश के घेरे में खींच कर रखना अनुपयुक्त समझता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि में वह उसकी वास्तविकता नहीं है और न सार्थकता ही। इसलिए विचारणीय प्रश्न यह है कि नया कवि अज्ञेय जी का 'गतानुगामी' मात्र है अथवा नहीं। आज की नयी कविता किसी व्यक्ति विशेष की ही प्रेरणा से उद्भूत न होकर युग विशेष की आवश्यकता से उद्भूत है। युग की आवश्यकता किसी के समर्थ व्यक्तित्व का निषेध करके नहीं चलती। वह स्वयं इतनी व्यापक होती है कि बड़े से बड़ा व्यकितत्व उसमें सहज समाहित होकर अपना उचित स्थान पा लेता है। यह बात कहने में मुझे संकोच नहीं है कि अज्ञेय जी से सर्वाधिक प्रेरणा पाने के बाद भी नयी कविता अब केवल उनके चरणचिह्नों की अनुवर्तिनी नहीं की जा सकती।

'नया कवि' और 'नयी कविता' शब्दों का प्रथम प्रयोग चाहे जब हुआ हो परन्तु यह स्पष्ट है कि इधर कुछ ही वर्षों में यह शब्द व्यापक व्यवहार में आये। कदाचित् 'वाद' की सीमा से अनिबद्ध होने के कारण 'नयी कविता' शब्द 'प्रयोगवाद' की अपेक्षा अधिक लोक-ग्राह्य हुआ। इसके प्रभूत प्रमाण दिये जा सकते हैं कि 'नयी कविता' 'प्रयोगवाद' के विरोध में नहीं आयी वरन् उसको मुक्त भाव से आत्मसात करते हुए उसका आर्विर्भाव हुआ। तीसरे सप्तक की भूमिका स्वयं इसे प्रमाणित करती है। व्यक्तिगत रूप से आज भी मैं दोनों के बीच किसी विरोध की स्थिति नहीं देखता हूँ और यदि किसी को दिखायी देती है तो मैं उसे, यानि स्थिति को , नयी कविता के लिए अहितकर ही मानूँगा।

सप्तकों के माध्यम से अज्ञेय जी ने जिन कवियों को हिन्दी साहित्य के समक्ष प्रस्तुत किया है उन्हीं में ऐसे अनेक हैं जिनका कवि-व्यक्तित्व स्वतन्त्र शक्ति-सम्पन्न आत्मप्रेरित एवं अज्ञेय के समान ही जागरूक एवं चेतन है। उदाहरण के लिए शमशेर बहादुर सिंह,धर्मवीर भारती तथा सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का नाम लिया जा सकता है। शमशेर की अनुभूति और अभिव्यक्ति की दिशा एवं सामर्थ्य दोनों ही अज्ञेय से भिन्न है। इसी प्रकार भारती के 'अन्धायुग' की समस्या प्रधान जीवन्त नाटकीयता तथा 'कनुप्रिया' की सार्थकता युक्त रागात्मक तरलता इस विशिष्टरूप से अज्ञेय की रचनाओं में शायद ही मिल सके। सर्वेश्वर अज्ञेय के निकटतम सम्पर्क में रह कर भी अपनी काव्यात्मक संवेदना की स्वतन्त्रता यथासंभव रक्षित किये हुए हैं। मदन वात्सयायन की मशीन के

कसते हुए दायरे की संवेदना में अपनी अलग विशेषता है। सप्तकों के बाहर 'नयी कविता' के विगत अंकों में परिचय रूप में प्रस्तुत अनेक कवि अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा का नाम यहाँ मैं विशेष रूप से लेना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें सामाजिक यथार्थ पर अपनी निजी शैली में कटुतम व्यंग्य करने की अन्यतम शक्ति है जो वात्स्यायन जी की काव्यरूचि से इतनी भिन्न है कि तीसरे सप्तक के लिए कवियों का चुनाव करने में वे श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी को तो चुन सके, परन्तु लक्ष्मीकान्त वर्मा उनके पचाये नहीं पचे। मैं लक्ष्मीकान्त वर्मा को उनकी शिल्पगत सारी अनगढ़ता एवं शिथिलता के बावजूद नयी कविता की प्रमुख संवेदना के एक विशेष रूप का प्रतिनिधि कवि मानता हूँ जो सप्तकों के किसी भी कवि में उपलब्ध नहीं होता। नयी कविता के प्रस्तुत अंक में विपिन कुमार अग्रवाल की कविताओं का संवेदना स्तर भी इसी प्रकार निजी विशेषताओं से युक्त और सप्तक-परम्परा के कवियों से भिन्न है। विस्तृत रूप से तुलना करने पर भिन्नता और एकता के भी अन्य अनेक बिन्दु निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। ऐसी दशा में अज्ञेय जी का यह कथन कि नया कवि उनका 'गतानुगामी' मात्र है वस्तुस्थिति से समर्थित नहीं होता। वे स्वयं अपने को 'गत' मान लें इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है (यद्यपि मुझको है क्योंकि मेरी दृष्टि से उनका कवि-व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकासशी हो रहा है) परन्तु इसका प्रतिवाद मैं विनम्र भाव से अवश्य ही करूँगा कि नया कवि अज्ञेय जी की कल्पना के अनुसार 'गतानुगामी' नहीं है। जब वह हिन्दी कविता की युगों पुरानी परम्परा को तोड़कर आगे बढ़ सका तो किसी एक व्यक्ति के 'पैरों की छाप' उसे बाँधे रख सके यह मेरे विचार से अकल्पनीय प्रतीत होता है।

❖

आज की कविता: खड़ी बोली की

एक नयी भंगिमा

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में भारतेन्दु द्वारा 'खड़ी बोली का सच्चा संसार' किये जाने के बाद से ही खड़ी बोली अपने अनुरूप अभिव्यंजना-शैली तथा काव्य-रूप की खोज में व्यस्त है। भरतेन्दु को ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली की कविता लिखने में 'दूना श्रम' हुआ था और वे अनेक प्रयत्नों के बाद भी यह निश्चित न कर सके कि 'किस छंद में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा।' छंद शब्द को किंचित् व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए मैं कहना चाहूँगा कि विकास के अनेकानेक सोपानों को पार करते हुए नयी कविता के क्षेत्र में आकर आज खड़ी बोली ने बहुत अंशों में न केवल अपने अनुरूप छंद पा लिया है वरन् एक नयी भंगिमा भी उपलब्ध कर ली हैं जिसकी सामर्थ्य एवं संभावनाएँ

निश्चित करना अभी संभव नहीं है। केवल उसका स्वरूप भर कुछ-कुछ स्पष्ट होता जा रहा है। नयी कविता में न केवल 'गद्य और पद्य की भाषा' की अभीष्ट निकटता घटित हुई है वरन् उसमें 'गद्य' और 'पद्य' स्वयं एक दूसरे को इतना निकट आ गये हैं कि दोनों की विभाजक रेखा कहीं-कही सर्वथा विलुप्त होती हुई दिखायी देती है। इस विशेष स्थिति का औचित्य-अनौचित्य स्वतन्त्र चर्चा का विषय है, क्योंकि कविता-अकविता का सीमा-निर्धारण केवल गद्य-पद्य के सतही विभाजन पर आग्रह करने से संभव नहीं है और यह बात अब प्रायः व्यापक रूप से मान भी ली गयी है।

हिन्दी कविता ने 'नवीन युग' के अनुरूप 'नवीन वाणी' अपनायी, यह तथ्य अपने में अद्वितीय ऐतिहासिक महत्व रखता है। बँगला, मराठी, गुजराती आदि किसी भी अन्य भारतीय भाषा के साहित्य में ऐसा घटित नहीं हुआ। कविता के क्षेत्र में यह हिन्दी की निजी विशेषता है और इससे उसके साहित्य की मूल प्रकृति एवं प्रवृत्ति का असंदिग्ध परिचय मिलता है। ब्रजभाषा की समस्त शास्त्रीय समृद्धि, सुकुमारता एवं परम्परानुमोदित काव्योपयुक्तता को अपदस्थ करके अनगढ़, कठोर, संस्कारहीन, कर्कश खड़ी बोली काव्य के सिंहासन पर आसीन हो गयी, यह केवल इसलिए कि उसमें उर्वरा शक्ति की अजस्त्र संभावनाएँ निहित थीं और ब्रजभाषा को उसकी अन्तर्निहित शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग करके भक्ति और रीति काल के कवियों ने एक प्रकार से 'चुका' दिया था। उसमें नये अर्थों के संवहन की तथा नये साहित्यिक रूपों में ढल जाने की उतनी क्षमता नहीं थी जितनी खड़ी बोली में संभव थी। भाषागत इस संघर्ष का इतिहास अत्यन्त रोचक है। 'जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रखें, चाहे कुदावें', 'खड़ी बोली काव्योपयुक्त नहीं है', उसने हिन्दी काव्य की उलटे छुरे से खूब हजामत की है, 'खड़ी बोली में काव्य करने वाला अपनी बातें आप ही खोजेगा तब पायेगा, 'खड़ी बोली की 'चाश्नी' ली और चीख-चीख कर छोड़ दिया' जैसे वाक्यों से स्थिति का आभास मिलता है। 'जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो' कहकर खेद प्रकट करने वाले रत्नाकर एक ब्रजभाषा कवि खड़ी बोली की प्रगति से क्षुब्ध ही होता रहा। अधिकतर उसका ब्रजभाषा-प्रेम नयी साहित्यिक शक्तियों के मार्ग में बाधक होकर ही व्यक्त हुआ है, क्योंकि उसे अपना अस्तित्व खतरे में दिखायी दे रहा था। आज ऐसी स्थिति नहीं रही। निष्कर्ष रूप में यह उद्घोषणा 'किन्तु कदापि नहीं हो सकती कविता योग्य खड़ी बोली' उनके कंठों से निस्सृत हुई जिनकी दृष्टि साहित्य के अंतरंग जीवनी शक्ति के स्त्रोत की पहचान खोकर भाषा के बाहरी भेद में अटक कर रह गयी थी। खड़ी बोली को 'गद्य की गद्दी' से 'पद्य की पदवी' पर प्रतिष्ठित करने की कामना जिस वर्ग की थी उसने उसके विरोधियों को 'राष्ट्र भाषा के जानी दुश्मन' के रूप में देखा और अपनी भावाकुलता में, स्वागत के स्वर में कहा,

तो अब आजा अरी खड़ी बोली तू आजा।

कड़ी क्यों न हो नहीं पड़ी बोली तू आजा।।

खड़ी बोली का 'खड़ापन' या 'कड़ापन' उसके समर्थकों को भी कष्टकर लग रहा था, यह इस उद्धरण के 'कड़ी क्यों न हो' अंश से सर्वथा स्पष्ट है। परिणामतः छायावाद तक का सारा अभिमान खड़ी बोली के इस कड़ेपन को विविध प्रकार से कोमल, मृदुल और गरिमामय बनाने का महान् उपक्रम प्रतीत होता है। अनगढ़ और अप्रयुक्त होने के कारण अभिव्यंजन शक्ति एवं काव्योपयुक्तता के विकास के साथ-साथ एक क्षेत्र खड़ी बोली के व्याकरणात्मक संशोधन एवं स्थिरीकरण का भी था जिसमें 'शुद्धाशुद्ध शब्द विचार' करते-करते 'द्विवेदी जी' को 'गुप्त जी' के प्रति लिखना पड़ा 'आपने कोधाष्टक थोड़े समय में लिखा होगा परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घण्टे लग गये।' यहाँ तक जो मनः स्थिति दिखायी देती है उसमें विशेषताओं के बीच श्रमपूर्वक आत्म-विश्वास एवं दृढ़ता अर्जित करने की चेष्टा प्रमुख रही। इसके बाद बड़े व्यापक स्तर पर अनुकरणात्मकता के द्वारा खड़ी बोली को शीघ्र से शीघ्र समृद्ध कर देने का संकल्प प्रधान हो गया। अनुकरण के लिए आदर्श रूप में संस्कृत, ब्रजभाषा, उर्दू तथा बँगला भाषाएँ स्वतः आदर्श बन गयीं, क्योंकि उस काल में इनके साहित्य में हिन्दी का निकटतम सम्पर्क रहा है। संस्कृत के प्रभाव से खड़ी बोली में तत्समता और सामासिकता की प्रवृत्ति बढ़ी। ब्रजभाषा से उसने शब्द-योजना की सजगता, कोमलता आनुप्रासिकता पायी उर्दू के सम्पर्क से उसमें मुहावरेदानी और रवानी आयी तथा बँगला से प्रसाद रूप में उसने ललित शब्दों की कोमलावृत्ति एवं स्वर-संगीत की चेतना प्राप्त की। द्विवेदी युग में यह अनुकरणमूलकता विविध प्रभावों के बीच एकसूत्रता खोजती रही। उसमें न तो खड़ी बोली के खड़ेपन को सहज रूप में स्वीकृत करके उसे सौन्दर्यबोध से जोड़ देने की भावना थी और न प्रभावों से ऊपर उठकर सृजनात्मकता के द्वारा भाषा को नया संस्कार देने की चिंता थी। छायावाद युग में भाषा में सृजनशीलता का प्रथम बार सक्रिय विकास हुआ परन्तु एक निराला को छोड़ कर खड़ी बोली के निजी सत्व (genius) को किसी ने यथेष्ट रूप में नहीं पहचाना। उनका प्रखर पौरूषमय व्यक्तित्व और ओजस्वी स्वभाव खड़ी बोली के अपने संस्कार के सर्वाधिक निकट सिद्ध हुआ। उनका कथन कि 'हिन्दी साहित्य की पृथ्वी पर जब ब्रजभाषा का प्रताप पयोधि नहीं है .....उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी' उनके काव्य में पूरी तरह चरितार्थ हुआ है। उत्तरछायावादी गीतकारों ने खड़ी बोली की बोलचाल के निकट लाकर उसको अतिशय एवं अनावश्यक तत्समता और छायात्मकता से मुक्त किया। प्रगतिवाद ने उसे गेयता के रोमांटिक वातावरण से निकाल कर सहसा सड़कों और पगडंडियों पर चलने को मजबूर किया जिससे उसमें एक खुलापन आया और उसने निकटवर्ती लोक भाषाओं के शब्द-समूह से निस्संकोच अपना कोश भरना आरम्भ कर दिया। प्रयोगवाद ने, अंग्रेजी के प्रभाव से, शब्द-प्रयोग की विविध चेष्टाओं द्वारा उसकी अर्थवत्ता को संवर्धित किया और भाषा की शक्ति के विकास की नयी

दिशाओं का संकेत किया। नयी कविता ने उत्तराधिकार में प्राप्त प्रभावों के प्रति सजगता व्यक्त करते हुए शब्दार्थ की आन्तरिक अन्विति पर आधारित एक ऐसा सौन्दर्य-बोध विकसित किया जिसमें खड़ी बोली का खड़ापन बाधक न होकर साधक तत्व बन गया। यह कार्य नयी कविता यथासंभव स्वतन्त्र रीति से कर रही है। पूर्वोक्त अनेक भाषाओं के संस्कारों को आत्मसात करते हुए उनकी प्रभावान्विति उत्पन्न करने से भिन्न इस प्रक्रिया में भाषा का निजी संस्कार उभार कर उसके कलात्मक उपयोग की चेष्टा निहित है। सृजनात्मक धरातल पर यह चेष्टा इतने व्यापक रूप से इससे पूर्व कभी सामने नहीं आयी। नयी कविता से पूर्व खड़ी बोली की शक्ति विकसित करने के जो प्रयत्न हुए हैं उनमें खड़ी बोली के अपने रूप और संस्कार को पहचान कर उसके काव्यात्मक उपयोग की ओर ध्यान अधिक नहीं दिया गया। प्रयत्न इसी बात का होता रहा कि अन्य निकटवर्ती भाषाओं की विशेषताएँ अथवा संस्कार उसमें कैसे और कितनी त्वरा के साथ समाविष्ट कर दिये जायें। भावना के क्षेत्र में खड़ी बोली के काव्य ने छायावाद युग में सर्वाधिक सम्पन्नता प्राप्त की और भौतिकता एवं सृजनशीलता की दृष्टि से भी यह काल अपने पूर्ववर्ती भरतेन्दु युग और द्विवेदी युग की अपेक्षा अधिक जागरूक था। परिणामतः भाषा भी अनुकरणमूलकता के घेरे से निकल सृजनशीलता की ओर प्रवृत्त हुई परन्तु छायावादी कोमलता खड़ी बोली की निजी प्रकृति से अधिक मेल न खा सकी। इसीलिए उत्तर-छायावाद काल में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बच्चन, अंचल, नरेन्द्र और दिनकर जैसे अनेक कवियों ने भावों के साथ भाषा को भी रहस्य और कुहासे से मुक्त करके उसे अपना निजी स्वरूप पहचानने का अवसर दिया। इन कवियों से पूर्व माखनलाल चतुर्वेदी, सनेही और नवीन आदि से ही यह कार्य आरम्भ हो गया था।

नयी कविता में कठोर और लोक-प्रचलित शब्दों के प्रति बहिष्कार की भावना नहीं है। वह कंकड़-पत्थर और रोड़ों जैसे शब्दों को उनके सहज स्वभाव में ही प्रयुक्त करके काव्यात्मक प्रभाव एवं अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का लक्ष्य रखती है। यह ठीक उसी प्रकार घटित हो रहा है जैसे एक शिल्पी काठ की कठोरता, उसके रेशों और धारियों का कलात्मक उपयोग (artistic exploitation) करके एक सुन्दर मूर्ति का निर्माण कर देता है। खड़ी बोली के खड़ेपन के निजी सौन्दर्य को पहचान कर उसकी सम्भावनाओं एवं शक्तियों का यथासाध्य पूरी तरह उपयोग करते हुए उसका कलात्मक प्रयोग वास्तविक नयी कविता की प्रकृति का अंग बन गया है। अंग्रेजी या योरोपीय साहित्य का प्रभाव भाषा के क्षेत्र में अधिक नहीं पड़ रहा है, क्योंकि वैसा संभव ही नहीं है। संस्कृत, ब्रजभाषा, उर्दू आदि की तरह अंग्रेजी का उतना सजीव सम्पर्क हिन्दी से नहीं है और न आगे वैसा होने की सम्भावना ही है। कुछ प्रयोग-विधाओं और शब्दविन्यासों को छोड़कर पाश्चात्य प्रभाव से खड़ी बोली और कुछ ग्रहण करने की स्थिति में नहीं है अतएव आगे उसको अपनी अन्तर्निहित शक्ति से ही अपने स्वरूप को सँवारना एवं समृद्ध करना है। नयी कविता ने इस कार्य का सूत्रपात कर दिया है और मेरे विचार से

जहाँ तक खड़ी बोली का प्रश्न है उसे नयी कविता के द्वारा एक नयी भंगिमा प्राप्त हुई है। यह भंगिमा इसलिए भी सम्भव हो सकी कि नयी कविता की प्रकृति से उसका गहरा आन्तरिक सामंजस्य है। नयी कविता भावना को बिना किसी आडम्बर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने पर आग्रह करती है। कथन की यह सिधाई (directness) एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक निश्चययात्मकता एवं दृढ़ता से उत्पन्न होती जो नयी कविता के भाव-बोध में यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होती है। फिर जिस कला-चेतना को नयी कविता ने विकसित किया है उसमें भी 'कटाव का तीखापन' या 'तराश' उत्पन्न करने की चेष्टा तथा 'कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात' कहने की उत्सुकता स्पष्ट लक्षित होती है। कुल मिलाकर यह सब कुछ खड़ी बोली की निजी प्रकृति से आन्तरिक संगति रखता हुआ-सा प्रतीत होता है। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ कुछ उदाहरण सामने रखना आवश्यक समझता हूँ जिनमें मेरी दृष्टि से खड़ी बोली की वह नयी भंगिमा जिसकी ओर मैंने ऊपर निर्देश किया है, स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है।

1. **मन मेरा**

स्मृति के कब्जे पर

कसे हुए खिड़की के पल्ले-सा

छड़ और दीवार के बीच

सर पटकता रोता रहा।

(सर्वेश्वर, नयी कविता 4, पृ0 123)

2. **बैसाखियाँ लिए हुए इतिहास**

बालू पर अपने पगचिह्न बना रहा है।

(भारती, नयी कविता, पृ0, 75)

3. **प्रश्न यही रहता है:**

दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं।

मैं अब कैसे उनके अनदेखे

उसमें सेंध लगा दूँ

या भरकर विस्फोटक

उसे उड़ा दूँ।

(अज्ञेय, नयी कविता 4,5 पृ0 142)

4. **सुबह**

आकाशों के थन से

गर्म-गर्म दूध कलईदार बर्तनों में भरता है-

(मलयज, नयी कविता, पृ0 60)

इन उदाहरणों में कवियों का जो कथ्य है अथवा जो बिम्ब कवि-मानस प्रस्तुत करना चाहता है उसके लिए कथन में सीधेपन का सहारा लिया गया है। शब्दों का अनुशासन भावना के अतिरिक्त खड़ेपन की विशेष-भंगिमा द्वारा भी होता हुआ दिखाई देता है। दोनों 'शासक' परस्पर विरूद्ध भी प्रतीत नहीं हो रहे हैं। शब्द-चयन 'प्रचलित' की सीमा को छोड़कर 'अप्रचलित' की ओर मुँह किये नहीं लगता। खड़ी बोली के स्वभाव को व्यक्त करने वाले शब्द-रूप, वाक्यांश और मुहावरे, मुक्त भाव से अपनाने और उन्हें सृजनात्मक चेतना द्वारा अतिरिक्त शक्ति प्रदान करके प्रस्तुत करने की जागरूक भावना स्पष्ट है, कविता का वातावरण किसी दूरवर्ती लोक की सृष्टि न करके नितान्त साधारण, आसपास के यथार्थ से युक्त 'घरेलू' जैसा प्रतीत होता है। यहाँ भाषा को अपर्याप्त मानकर छोटे-बड़े टाइप या सीधे अक्षरों से कोई 'प्रयोग' भी नहीं किया गया है और यदि इसमें किसी को इतने के बाद भी अंग्रेजों की गुलामी ही दिखायी दे तो मैं कहूँगा कि उसे अपनी दृष्टि का उचित परीक्षण कराना चाहिए।

❖

नयी कविता: कविता और अकविता

काव्य को नियोजित करने वाले तत्वों तथा नियोजनकर्ता कवि के विचारों में परिस्थिति भेद से अन्तर भले ही आ जाये परन्तु किसी भी दशा में अव्यवस्थित एवं असंयोजित कथन को कविता नहीं कहा जा सकता। इधर नयी कविता के नाम से बहुत सी अनर्गल, अनुकरणमूलक, निरनुशासित,

अर्थ-क्षीण रचनाओं को अनपेक्षित प्रश्रय मिल रहा है जो आधुनिक हिन्दी कविता के उत्तरोत्तर परिपक्व एवं प्रौढ़ होने के मार्ग में बाधक अतएव खेदजनक प्रतीत होता है। प्राचीन कविता के स्थान पर नयी कविता के समर्थन का तात्पर्य 'कविता' के स्थान पर 'अकविता' का समर्थन कदापि नहीं कहा जा सकता। छंद को मुक्त करने या छंद से मुक्ति पाने का उद्देश्य कभी भी कविता को कविताहीन बनाना नहीं रहा। उसकी वास्तविक आवश्यकता कविता को नये युग की संवेदनाओं का समर्थ वाहक बनाने के उद्देश्य से ही उत्पन्न हुई और यदि ऐसा यथेष्ट रीति से घटित नहीं होता तो सारी स्थिति पर पुनर्विचार करने का विशेष दायित्व उन पर आता है जिन्होंने इस दिशा में अपना मानसिक अथवा क्रियात्मक सहयोग दिया है। नयी कविता ऐसे स्वातन्त्र्य पर विश्वास नहीं करती जो दायित्वविहीन हो। अतएव उसके समक्ष उन कवियों का दायित्व गुरूतर हो जाता है जो परम्परानुमोदित पक्ष से हटकर अपने युग की नयी वास्तविकता के अनुरूप एक ऐसे मार्ग का निर्माण करना चाहते हैं जिसके द्वारा उनकी काव्यानुभूति अधिक ईमानदारी, औचित्य और शक्ति के साथ व्यक्त की जा सके। जितना अनुशासन कविता को कविता बनाये रखने के लिए अनिवार्य है उतना नये कवि को यदि परम्परा से उपलब्ध नहीं होता है तो उसे अपने संवेदनशील सजग कवि-व्यक्तित्व से स्वयं अर्जित करना होगा। यदि वह संकल्पबद्ध होकर वैसा नहीं करता तो स्पष्टतया कहना होगा कि वह अपने दायित्व का यथोचित संवहन नहीं कर रहा है। इस दायित्व-हीनता के लिए उसे न वह युग क्षमा करेगा जिसके अनुरूप अपने को ढालते हुए वह नवीन यथार्थ को व्यक्त करना चाहता है और न आगामी युग जिसकी भूमिका से वह अपने को किसी भी प्रकार विच्छिन्न नहीं कर सकता। जिस काव्य में अपने युग का होकर भी युग से ऊपर उठने की क्षमता होती है वही साहित्य की स्थायी निधि बन पाता है। जो अपने युग की संवेदनाओं का समर्थ वाहक भी न हो सके उसके लिए युगान्तर स्थायित्व की कल्पना करना व्यर्थ है। कविता के लिए इस सामर्थ्य की पहली शर्त यह है कि वह श्रोता की अन्तर्वृत्ति को गहराई के साथ पकड़ सके। यदि यही शर्त पूरी नहीं होती तो कथ्य वैचारिक दृष्टि से, अथवा कवि की वैयक्तिक अनुभूति की दृष्टि से कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो काव्यात्मक नहीं कहा जा सकता। कथन में ऐसी काव्यात्मकता की सृष्टि किये बिना जो खुले विचारों वाले उन्मुख श्रोता की चित्तवृत्ति को अपेक्षित रूप से पकड़ सके, कविता की रचना किसी प्रकार संभव नहीं है। जो कथन सृजनात्मकता (creativity) तथा संवेदनीयता (emotivity)से रहित हो उसे किसी भी स्तर पर कविता नहीं कहा जा सकता। नयी कविता में इन तत्वों की और भी अपेक्षा रहती है क्योंकि उसमें छंद की बाह्य व्यवस्था को उतना आवश्यक नहीं माना जाता जितना पिछले युगों में माना जाता रहा है पर बाह्य व्यवस्था से मुक्ति आन्तरिक व्यवस्था के बिना अराजकता कही जायेगी। सृजन शक्ति की दृष्टि से किसी भी कला के दो मुख्य स्तर होते हैं, एक रचनात्मक (creative) तथा दूसरा अनुकरणात्मक (Imitative)। जब कोई नया 'वाद' यथार्थ रूप में साहित्य के क्षेत्र में अवतरित होता है तो उसका पहला कार्य होता है

एक दृढ़ संकल्प के साथ पूर्वागत विचारधारा और परम्परा पर आधारित अनुकरणात्मकता की उत्तरोत्तर निर्जीव होती हुई वृत्ति को नवागत संदर्भों से अनुप्रणित करके सजीव वृत्ति की ओर मोड़ देना। जितनी दूर तक रूढ़िग्रस्तता इस कार्य में कठिनाई प्रस्तुत करती है उतनी दूर तक विद्रोह आवश्यक हो जाता है। नयी कविता ने गत दशक में यह प्राथमिक कार्य अनेक प्रकार से सम्पन्न किया है। जो प्रतीक निस्तेज एवं झूठे पड़ गये थे उन्हें सतेज और यथार्थ-अनुभूति-सम्पन्न प्रतीकों द्वारा स्थानान्तरित कर दिया; जो विचार संकीर्णता और पराङ्मुखी मनोवृत्ति के परिचायक थे उन्हें झकझोर दिया। शैली-शिल्प को नया संस्कार देते हुए उसने अभिव्यंजना के क्षेत्र में भावाभिव्यक्ति के अनेक नये द्वार खोल दिये। गंभीर अनुभूति को व्यक्त करने के लिए बाह्यतः अगंभीर जैसे लगने वाले किन्तु आन्तरिकतः उसके समर्थ व्यंजक सर्वथा नवीन और मौलिक उपाय खोज निकाले। कवि की प्रयोगशीलता इस दिशा में सतत जागरूक एवं प्रयत्नरत रही है और उसकी चेष्टा असफल नहीं गयी। न जाने कितनी ऐसी कविताएँ सामने आयीं जो पूर्ववर्ती कविताओं से कथन-भंगिमा और शिल्प में भिन्न होते हुए भी एक गहरी पकड़ से युक्त तथा वास्तविक एवं सार्थक अनुभूति की व्यंजक प्रतीत हुई। उनके अनुकरण में बहुत कुछ ऐसा भी आया और आ रहा है जिसमें कवि अपने व्यक्तित्व की रचनात्मक सामर्थ्य को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के स्थान पर उधार की शब्द-योजनाओं को अपनाकर आरोपित गंभीरता के साथ कुछ अजीब-सी बात कहने की चेष्टा कर रहा है। ऐसी चेष्टा से उत्पन्न कविताएँ अधिकतर आन्तरिक अनुशासन से हीन होती है और उनसे अगति तथा विकृति का ही परिचय मिलता है। काव्य के मूलभूत विवेक से रहित ऐसी कृत्रिम रचनाओं द्वारा मौलिक महत्व की कृतियाँ बहुधा प्रच्छन्न हो जाती हैं, अतएव इस दिशा में विशेष सजगता अपेक्षित है। 'नयी कविता लिखना' और 'नयी कविता के स्टाइल में लिखना' सर्वथा भिन्न बाते हैं। किसी काव्य-कृति का 'कविता' होने के साथ ही 'नयी' होना अभीष्ट है। वह 'नयी' हो और 'कविता' न हो यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर नयी कविता का विरोध नयेपन के आग्रह के कारण उतना नहीं हो रहा है, जितना इस कारण कि जो बाह्यतः और साधारणतः कविता नहीं लगता, उसे उसके अन्तर्गत कविता कहा जाता है। अतएव 'नया क्या है ?' इस प्रश्न के साथ यह प्रश्न भी जीवित प्रश्न है कि 'कविता क्या है ?' और यदि सत्य कहा जाये तो पहले की अपेक्षा अब यह दूसरा प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है। एक दृष्टि से ये दोनों प्रश्न परस्पर सम्बद्ध और एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं, क्योंकि कविता में नवीनता की उत्पत्ति वस्तुतः सच्ची कविता लिखने की आकांक्षा से ही होती है। नयेपन पर आग्रह बढ़ने के साथ-साथ कविता की सच्चाई पर आग्रह बढ़ना स्वाभाविक होता है, प्रत्युत यदि यों कहा जाये तो ज्यादा सही होगा कि अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई ही ऐसी नवीनता को जन्म देती है, जिसे साहित्य में महत्वपूर्ण माना जाता है। नयी कविता और पुरानी कविता का भेद लक्षित कर लेना उतना कठिन नहीं है, जितना सच्ची कविता और झूठी कविता का अन्तर परख

लेना। इसके लिए अधिक सचेतन एवं संवेदनशील भाव-यन्त्र की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार असत्य बहुत काल तक स्थिर नहीं रह पाता, उसी प्रकार झूठी कविता के अप्रतिष्ठित होने में अधिक विलम्ब नहीं लगता। ऐसा विश्वास रखते हुए काव्यगत मूल्यों के सतत अन्वेषण एवं पुर्नप्रतिष्ठापन की आवश्यकता रही ही है।

कविता के लिए कौन से तत्व परमाश्यक हैं, इसका निर्धारण विभिन्न युगों और देशों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। सामान्यतया गद्य और पद्य के रूप में जिस विभाजन को बहुत काल तक नियामक स्वीकार किया जाता रहा, सूक्ष्म रीति से देखने पर वह न तो उतना नियामक प्रतीत होता है और न उतना आत्यन्तिक ही। वस्तुतः कविता और अकविता का सम्बन्ध पद्य और गद्य मात्र से न होकर भाषागत अभिव्यक्ति की दो अवस्थाओं से है, जो एक दूसरे से तत्वतः भिन्न होती है।'

सामान्य गद्य में भाषा के स्वभाव के अनुसार 'वाक्य' इकाई होता है, परन्तु कविता में प्रत्येक सार्थक 'शब्द' इकाई बन जाता है। कहीं-कहीं शब्दों ही नहीं, वर्णों तक में इकाईपन का बोध होने लगता है। जिसने 'वर्णानां अर्थसंघानां' लिखा, उसने कविता की प्रकृति को निश्चय ही अत्यन्त सूक्ष्मता से लक्षित किया होगा। शब्द की इकाई की मर्यादा का निर्वाह पद्य को ही नहीं, यदि गद्य कविता का माध्यम बनता है तो उसे भी करना होता है अन्यथा जितने अंशों में वह इसका तिरस्कार करेगा, उतने ही अंशों में कविता की कोटि से गिरता जायेगा। साधारणतया गद्य में शब्द का महत्व इसलिए भी कम होता है कि उसमें वह अन्य बिम्बों का वाचक चिह्न-मात्र होकर आता है, जब कि कविता में शब्द या तो स्वयं बिम्ब (image)होता है या कवि द्वारा संग्रथित व्यापक बिम्ब-विधान में उसका सुनियोजित स्थान होता है और रचना के आन्तरिक संगठन के साथ उसकी आवयविक संगति रहती है। भावना का प्रवाह मूल बिम्ब-विधान के साथ गतिशील रहता है, अतएव प्रत्येक शब्द उसका समर्थ वाहक बन कर ही अपनी वास्तविक उपादेयता सिद्ध कर पाता है। शब्द की अद्वितीय महत्ता मानकर ही कदाचित् 'शब्दार्थौं सहितौ' को काव्य का लक्षण बताया गया। केवल विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत काव्य की परिभाषा में 'शब्द' को गौण मानकर रसात्मक 'वाक्य' को काव्य की इकाई के रूप में प्रतिष्ठित किया गया, जिसका खंडन करके पंडितराज जगन्नाथ के पुनः रमणीयार्थ प्रतिपादक 'शब्द' को काव्य की संज्ञा प्रदान की। विश्वनाथ ने सम्भवतः रस-सिद्धान्त के प्रभाव से शब्द के स्थान पर वाक्य को मान्यता प्रदान की, क्योंकि एक शब्द की अपेक्षा एक वाक्य से रस की प्रतीति अधिक सम्भव है। रस बिम्बों की संगति से ध्वनित अर्थ द्वारा निष्पन्न होता है और केवल एक शब्द में यह तब तक घटित नहीं हो सकता, जब तक वह वाक्य के अर्थ-विस्तार को अपने में समाविष्ट करते हुए प्रयुक्त न हो। मैं शब्द को ही काव्य, विशेषतः कविता, की इकाई मानने के पक्ष में हूँ, क्योंकि उसमें

सूक्ष्मता के साथ-साथ क्षेत्र-विस्तार की अधिक गुंजाइश है। यहाँ मैं कविता विषयक दो मन्तव्य सामने रखना चाहता हूँ, जिनमें बिम्ब विधान को केन्द्र में रखकर विचार किया गया है। एक है पंडित रामचन्द्र शुक्ल का और दूसरा है माइकेल ओकशॉट(Micha Oakeshott) का।

(1) काव्य में अर्थ-ग्रहण भाव से काम नहीं चलता; बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब-ग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।

(2) By ‘Poetry’ I mean the activity of making images of a certain king and moving about among them is a manner appropriate to their character.The voice of poetry in “Conversation of Making.”

दोनों मन्तव्यों में जिस ढंग से बिम्ब को (Image) कविता या काव्य से जोड़ा गया है, उससे उसकी महत्ता सर्वथा स्पष्ट है। एक स्थान पर हर्बर्ट रीड ने भी कुछ ऐसी ही धारणा व्यक्त की है।

(Poetry is expressed in words and words suggest images and ideas and ideas and in poetry we may be explicitly conscious of both the words and ideas of images with which they are associated.)

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने अपने काव्य-विवेचन में ‘बिम्ब’ को कहीं भी आधार नहीं बनाया है और शुक्ल जी ने, जहाँ तक मेरा अनुमान है, पाश्चात्य काव्य-चिंतकों के प्रभाव से ही उसकी चर्चा की है। बिम्ब पर सबसे अधिक आग्रह बिम्बवादियों (Imagists) ने किया। अत्याग्रही एमी लॉवेल के (Amy Lowell) नाम पर उसे व्यंग्य में तक कह दिया गया। उतना आग्रह ‘वाद’ विशेष की सीमा में ही आ सकता है, यहाँ केवल बिम्ब की तात्विक स्थिति पर विचार करना ही अभीष्ट है। बिम्बवाद के अन्तर्गत एजरा पाउण्ड ने स्थिर बिम्ब (Stationary Image)के साथ गतिशील बिम्ब (moving image) को भी समाविष्ट करने का आग्रह किया, यद्यपि इस प्रकार बिम्ब-विधान को विभाजित करना विवेचक की दृष्टि में आभीष्ट नहीं है। (The poetry of Ezra Pound, Hugh Kuneer, p.no 57) बिम्ब के स्वरूप की जिज्ञासा गहनतर होती होती हुई पाउण्ड को चीनी लिखित अक्षरों में निहित विचार-प्रतिमाओं तथा जापानी हॉक्कू, अज्ञेय जी के अनुसार ‘हाइकू’, तक ले गयी और उसका विवेचन बहुत कुछ दार्शनिकता का स्पर्श करने लगा। उसकी गतिशील बिम्ब की कल्पना में गत्यात्मक और नाटकीय (dynamic & dramatic) दोनों प्रकार के बिम्ब समाविष्ट हैं। पाउण्ड ने अपने विश्लेषण द्वारा कविता में अन्तर्निहित ‘गणित’ को उद्घाटित किया। उसकी दृष्टि में कविता का जो स्वरूप उभर कर आया, वह इस प्रकार है—

Poetry is a sort of inspired mathematics, which gives us equations, not for abstract figures, triangles, spheres, and the like, but equations for human emotions. If one have a mind which inclines to magic rather then science, one will prefer to

speak of these equations as spells or incantations; if sounds more arcane, mysterious, recondite. (Sprit of Romance. P.No. 5.)

पाउण्ड द्वारा इस मत के प्रर्वतन के सात ही वर्ष बाद प्रायः इसी के आधार पर उद्भावित टी0 एस0 इलियट का प्रसिद्ध काव्य-सिद्धान्त ‘Objective Correlative’ सामने आया, जिसके अनुसार भावाभिव्यक्ति का एक ही उपाय है और वह यह कि भाव-विशेष के लिए ऐसी वस्तुओं, स्थितियों अथवा घटना-श्रृंखलाओं की कल्पना की जाये, उस भाव से इस प्रकार का सम्बन्ध-सूत्र हो कि चेतना से बाह्य तथ्यों का सम्पर्क होते ही संवेदन रूप में उनकी परिणति अवश्यम्भावी हो जाये और तत्काल वहीं भाव उद्भूत हो जाये।

(The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an “Objective Correlative, in other words a set of objects a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked.)

—Selected Essays

जिस विचार-पद्धति से इलियट का यह सिद्धान्त निकला है, उसकी चरम सीमा भारतीय रस-सिद्धान्त में दिखायी देती है। भले ही “The image as sensory equivalent of an emotion” के रूप में उसकी अभिव्यक्ति न हुई हो, परन्तु नियत भावों-अनुभावों आदि के संयोग द्वारा निश्चयात्मक रीति से रस विशेष की निष्पत्ति की कल्पना है, सर्वथा उसी प्रकार की उससे कहीं अधिक व्यवस्थित एवं पूर्ण भी। अन्तर बिम्ब-विधान को केन्द्र में रखकर सोचने न सोचने का है। प्राचीन भारतीय चिंतकों ने कविता के प्रश्न पर ‘बिम्ब’ के सहारे विचार नहीं किया है, यह मैं कह ही चुका हूँ, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि शब्दों से परिचलित होने वाले कल्पना-व्यापार से वे अवगत थे। इस कल्पना-व्यापार का समावेश बहुत दूर तक ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ है। श्रव्य काव्य की परिधि में समाविष्ट दृश्य-तत्व ही ‘बिम्ब’ है, जिसका प्रत्यक्षीकरण ध्वनि के सहारे कल्पना द्वारा किया जाता है। दृश्य और श्रव्य रूप में काव्य को विभाजित कर देने के ही कारण कदाचित् भारतीय दृष्टि बिम्ब-विधान के विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकी। उसने दृश्य-तत्व को भी अन्ततः ध्वनित ही माना। यह अवश्य है कि ध्वनि और बिम्ब की धारणाओं में ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा सम्भव होता तो शुक्ल जी ‘image’के पर्याय रूप में ग्रहीत ‘बिम्ब’ शब्द का प्रयोग न करके किसी भारतीय काव्य-शास्त्र-सम्मत शब्द का ही प्रयोग करते। यहाँ बिम्ब को लेकर प्रसंग का विस्तार कुछ अधिक अवश्य हो गया, परन्तु मूल उद्देश्य कविता की उस प्रकृति को लक्षित करना था, जो उसे साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् कर देती है।

बिम्ब-विधान को इतना महत्वपूर्ण मानते हुए भी एजरा पाउण्ड के सामने सच्चे कवि को झूठे कवि से पृथक् करने का प्रश्न आया तो उसने दोनों के बीच अन्तर निर्धारित करने के लिए एक भिन्न मार्ग का अनुसरण किया। ऐसा मार्ग कदाचित् उसके जैसे कवि को ही सूझ सकता था क्योंकि इस तक पहुँचने के लिए रचनात्मक अनुभव की एक विशेष भूमिका अपेक्षित जान पड़ती है। पाउन्ड के अनुसार दोनों का अन्तर उस समय बहुत सरलता से लक्षित कर लिया जाता है, जब सच्चा कवि अपने को विश्वास के साथ अभिव्यक्ति के सरलतम रूप तक ले जाता है और बिना विशेषणों का प्रयोग किये हुए काव्य-रचना करता है।

(The true poet is most easily distinguished from the false, when he trusts himself of the simplest expression and when he writes without adjective. — The sprit of Romance, P.No. 219)

यह कथन यथार्थ है क्योंकि बहुधा विशषणों की बहुलता उन्हीं की कविता में मिलती है, जिनमें वास्तविक काव्य-शक्ति की न्यूनता रहती है। समर्थ कवि विशेषणों का अत्यन्त सधा हुआ प्रयोग करता है और वह भी वहीं जहाँ अन्य प्रकार से सजीवता लाना प्रायः संभव नहीं होता है। सच तो यह है कि विशेषणों की प्रयोग-विधि से कवि की सामर्थ्य-असमार्थ्य दोनों का ही बोध हो जाता है और विशेषण ही क्यों जैसा आरम्भ में कहा गया है, कविता में प्रत्येक शब्द, इकाई के रूप विशेष अस्तित्ववान् होने के कारण महत्वपूर्ण होता है तथा प्रयुक्त अवस्था में कवि की कीर्ति-अकीर्ति का अनिवार्यतः उदघोष करता रहता है। जिस 'कलन की सतर्कता' की ओर अज्ञेय जी ने प्रतीकों के महत्व की चर्चा करते हुए, 'वर्णन और भावन' के प्रसंग से इंगित किया है, वह भी शब्दों की इकाई से ही अनुस्यूत है। कविता का शब्द-शब्द भावाभिव्यंजन में सहायक होता है; और यदि सहायक नहीं होता तो बाधा पहुँचाता है क्योंकि कविता के अनुशासन अथवा कसाव में इतना रिक्त स्थान बचता ही नहीं है कि कोई शब्द तटस्थ होकर चुपचाप खड़ा रहे, भाव एवं अर्थ की गति में न वह बाधक हो और न साधक। 'प्रतीक और जन-मानस' के प्रसंग में अज्ञेय जी ने अपने ढंग से 'कविता' और 'कविता नहीं' के विषय में अपना सुविचारित मत व्यक्त किया है जो प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय है—

साधारण का साधारण वर्णन कविता नहीं है; कविता तभी होती है, जब साधारण पहले निजी होता है और फिर व्यक्ति में से छन कर, साधारण होता है। जो इसको भूलते हैं, उनके पद्य परम सदुद्देश्यपूर्ण होकर भी कविता नहीं बन सकते, और चाहे जो कुछ हो जाँय।

कविता के निकट मनुष्य-मनुष्य के बीच विभाजक तत्व गौण और संयोजक तत्व प्रधान होते हैं, इसलिए एक स्थान पर वह आज भी आवश्यक एवं अनिवार्य है। रस को काव्य की आत्मा कहने में उन लोगों के लिए कठिनाई हो सकती है, जिन्हें आत्मा पर विश्वास नहीं है, अतएव मैं कहना चाहूँगा

कि भाव ही कविता का शील है। पहले भी कविता मनुष्य की आन्तरिक भावात्मक एकता को मानकर चलती रही है और आज भी मेरी समझ से उस मूल मान्यता में कोई परिर्वतन नहीं आया है। तमाम बौद्धिकता के बावजूद भी यह सत्य है कि संवेदनीयता या भावशीलता (emotivity) की रक्षा के बिना कविता का कविता रहना संभव नहीं है। यह दूसरी बात है कि सभ्यता के अनेकानेक आवरणों और संस्कृति के जटिल संघर्षो में भाव को सही रूप में ग्रहण और व्यक्त कर पाना दुरूह होता जा रहा हो। मान्यता तो यहाँ तक है कि बुद्धि में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो संवेदनों से छन कर न पहुँचा हो।(nothing is in the intellect that is not first in the first in the senses) (The poetry of Ezra pound, p.no. 76) ज्ञान और संवेदन की इसी निकटता को मुक्तिबोध ने 'संवेदनात्मक ज्ञान' और 'ज्ञानात्मक संवेदन' जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त करते हुए नयी कविता के आत्मसंघर्ष पर सूक्षमता से दृष्टिपात् किया है। कविता का स्वरूप-परिर्वतन भी इसीलिए बहुतों के न चाहने पर भी घटित हो ही रहा है और आगे भी उसे कोई रोक नहीं सकेगा। आवश्यकता केवल इसी की है कि कविता के मौलिक तत्वों पर से ध्यान न हटने पाये और न उनकी उपेक्षा हो।

भारतीय काव्य-चिंतकों ने अपने-अपने तत्व-चिंतन-क्रमों तथा समायिक संदर्भों में काव्य (मुख्यतया कविता) की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनके द्वारा कविता का कोई न कोई मौलिक सत्य प्रमुख रूप से सामने आया है, चाहे वह अलंकरण, रीति या वक्रोक्ति हो, चाहे ध्वनि, रस या रमणीयता। प्राचीन चिंतकों के साथ अपनी बात को जोड़ना धृष्टता ही है तथापि वास्तविकता के नाते मैं कहूँगा कि नयी-कविता के संदर्भ में मैंने सह-अनुभूति को विशेष महत्वपूर्ण पाया है (द्रष्टव्य, नयी कविता, अंक 4) यदि उसके आधार पर मुझे आज कविता की परिभाषा देनी ही पड़े तो मैं उसे निम्नलिखित रूप में रखना चाहूँगा।

कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लायात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।

यहाँ 'यथेष्ट' शब्द कवि और पाठक दोनों के 'इष्ट' को अपनी अर्थ-व्याप्ति में समाहित किये हुए है क्योंकि मैं कविता के विषय में कवि के निर्णय को ही अन्तिम निर्णय न मानकर श्रोता या पाठक द्वारा उसकी मान्यता को अनिवार्य समझता हूँ। किसी सफल कलाकृति के लिए 'विधायक कल्पना'(creative imagination) को 'ग्राहक कल्पना'(receptive imagination) के इतने निकट सम्पर्क में ला देना आवश्यक होता है कि बाहर से भीतर की ओर देखने वाला व्यक्ति भीतर से बाहर की ओर व्यक्त हुई भाव-वस्तु को उसके यथार्थ रूप में पूरी तरह प्रत्यक्ष कर सके।

इस पीठिका में जब आज से केवल पैंतालिस वर्ष पूर्व व्यक्त की गयी उत्तम काव्य विषयक एक भावुक धारणा ('उत्तम काव्य के लिए मधुर भाषा के मनोहर छंदोपवन में मयूरादिक ललित शब्दों की छटा में अलंकार के सरस मेघों से उत्तम भावों की झर लगी होनी चाहिए'। की ओर दृष्टि जाती है तो लगता है सचमुच हिन्दी कविता कुछ ही दशकों में बहुत लम्बी यात्रा तय कर आयी है।

❖

काव्य-बिम्ब: समस्या और स्वरूप

1. भारतीय काव्य-चिंतन और बिम्ब

नयी कविता, अंक 5-6 में 'कविता और अकविता' की समस्या उठाते हुए इस तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश कर दिया गया था कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य की विवेचना करते हुए अपने सिद्धान्तों में कहीं भी 'बिम्ब' को आधार नहीं बनाया है और शुक्ल जी ने 'कविता क्या है' के अन्तर्गत बिम्ब-ग्रहण की जो चर्चा की है, उस पर पाश्चात्य काव्य-चिन्तकों का प्रभाव कहा जा सकता है।

बिम्ब में गोचरत्व निश्चित रूप से विद्यमान रहता है। इसी आधार पर शुक्ल की सभ्यता के आवरणों के पीछे छिपी हुई मूल आदिम भाव-वृत्तियों को जाग्रत एवं प्रत्यक्षीकृत करने के क्षेत्र में बिम्ब का विशेष महत्व बताते हुए काव्याभिव्यक्ति में उसकी अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि यदि 'बिम्ब' कविता के संदर्भ में इतनी महत्ता रखता है, तो काव्य का सूक्ष्म तात्विक विश्लेषण करने वाले इस देश के प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से वह ओझल कैसे हो गया और यदि उससे मिलती-जुलती कोई धारणा उनकी नजर में रही, तो उसका स्वरूप या महत्व क्या निर्धारित किया गया है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में गोचरत्व धर्म से युक्त बिम्ब का निकटवर्ती जो शब्द मुझे मिल सका है, वह है 'अर्थ-चित्र'। यह 'अर्थ-लय' की तरह मेरा अपना दिया हुआ शब्द नहीं है, इसकी प्रकृति की व्याख्या अनेक मान्य काव्याचार्यों ने की है। यह दूसरी बात है कि उनके द्वारा अर्थ-चित्र अधिकतर अधम काव्य से सम्बद्ध माना गया है।

अर्थ-चित्र की स्थिति एवं अभिप्राय

अर्थ-चित्र के प्रति मेरी जिज्ञासा कई कारणों से तीव्रतर होती गयी। पहला कारण काव्य-तत्व के रूप में बिम्ब की आधुनिक धारणा की समवर्ती भारतीय काव्यशास्त्रीय धारणा के प्रति जागरित शोध-भाव, दूसरा कारण विविध काव्याचार्यों द्वारा अर्थ-चित्र को अधम से लेकर उत्तम काव्य तक की कोटि में निर्धारित करने के अनिश्चयसूचक प्रयत्न की विचित्रता तथा तीसरा और सर्वोपरि कारण रूप-तत्व की शब्दबद्धता एवं काव्योपयोगिता के प्रति मेरा व्यक्तिगत आकर्षण। इन तीनों कारणों ने

सम्मिलित रूप में नयी कविता के संयुक्तांक के प्रकाशन के बाद से अब तक बराबर मेरी विचारधारा को आन्दोलित किया है। इस लेखन-क्रम में मैं अपने भीतर के उस विचार-संघर्ष को ही एक रूप दे रहा हूँ।

निम्नलिखित पद्य, जिसमें सादृश्य के माध्यम से एक प्रभावपूर्ण एवं उत्कृष्ट बिम्ब की योजना कवि-कल्पना में निहित रूप-बोध द्वारा स्वतः घटित हुई है, 'काव्य-प्रकाश' में अधम या 'अवर' काव्य क अन्तर्गत वाच्य-चित्र (अर्थ-चित्र) नामक भेद के रूप में उदाहृत हुआ है—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् |

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।।

अर्थ -'मित्रों को मान देने अथवा शत्रुओं के मान का दमन करने वाले जिस (हयग्रीव) के स्वेच्छापूर्वक अपने भवन से निकलने मात्र का समाचार पाकर इन्द्र ने घबराहट के कारण जिसकी अर्गला लगवा दी, वह (बंद द्वार वाली) अमरावती मानों ऐसी लग रही है, जैसे उसने भय के मारे आँखें मूँद ली हो।'

यहाँ कवि ने बन्द कपाटों वाल पुरी के कल्पित रूप-चित्र को व्यक्त करने के लिए आँखें मूँदे हुए एक भयभीत स्त्री का सजीव एवं आकर्षक बिम्ब सादृश्य (उत्पेक्षा) के रूप में समाविष्ट किया है। इसमें पर्याप्त व्यंजना भी है, फिर इसे अधम काव्य की कोटि में किस प्रकार रखा जा सकता है, मैं नहीं समझ सका; मुझे बहुत क्षोभ हुआ और मम्मट जैसे काव्य-मर्मज्ञ की विवेक-शक्ति पर संदेह उत्पन्न होने के साथ ही मन में यह बड़ी बात भी आयी कि भारतीय काव्य-चिन्तन में अर्थ के भीतर निहित या उससे व्यंजित होने वाली बिम्बात्मकता के प्रति समुचित दृष्टि नहीं अपनायी गयी है। उसे सादृश्यमूलक अलंकारों से पृथक् करके एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में देखा जाना चाहिए था। रस और रूप, दोनों का आकर्षण अपनी पृथक्-पृथक विशेषता रखता है। रूप-बोध की अपनी निजी व्यंजनाएँ और निजी कोटियाँ होती है, जिनमें वह अधम ही नहीं, उत्तम भी हो सकता है। रूपतामक परिकल्पना एक स्वतंत्र व्यापार है, जिसमें रूप से रूप की व्यंजना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर तक सम्भव है। भारतीय काव्य में अत्यन्त उत्कृष्ट रूप-बोध लक्षित होता है, परन्तु आश्चर्य और खेद है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में उसे इतना निम्न स्थान दिया गया है। मम्मट द्वारा किये गये अन्याय और उससे उत्पन्न मेरे क्षोभ का कुछ परिहार इस बात से हो जाता है कि नरसिंह ठक्कुर जैसे एक-आध व्याख्याकार ने इति कथम् व्यंग्योदाहरणमिति वाच्यम् लिखकर इसका प्रतिवाद किया और पण्डितराज जगन्नाथ ने सैद्धान्तिक आधार पर, व्यंग्यमयता के ही तर्क को अपनाकर, काव्य की श्रेष्ठता का दूसरा कोटि-क्रम निर्धारित किया, जिसमें अर्थ-चित्र को अधमता के पाश से मुक्त करके मध्यम कोटि में स्थापित किया और शब्द और अर्थ के वैचित्र्यों में विभेद न करने वालों को दुराग्रही

कहा। पर इसके लिए उन्हें उत्तम काव्य के ऊपर उत्तमोत्तम काव्य की एक और कोटि स्थापित करनी पड़ी।

[(क) रसगंगाधर, 'काव्यभेदाः' के अन्तर्गत अधम काव्य के प्रसंग में— 'तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषणाधमत्वमयुक्तं वक्तुं, तारताम्यस्य स्फुटमुलब्धेः। को ह्येव सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममंदिरात्' ....इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वछंदोच्छलद' इत्यादीनां पामर श्लाघानामविशेषं ब्रूयात्।

(ख) दृष्टव्य ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ0 301]

उत्तम काव्य के प्रसंग में 'रसगंगाधर' के अन्तर्गत उन्होंने ऐसे व्याख्याकारों के मत को अमान्य ठहराया है, जिन्होंने चित्र (अर्थ-चित्र) को गुणीभूतव्यंग्य से पृथक् माना है। पंडितराज ने कुछ अलंकारों का नामोल्लेख करते हुए यह बताया कि सभी आलंकारिकों ने उनको गुणीभूतव्यंग्य और चित्र, दोनों ही माना है। (रसगंगाधर, काव्यभेदाः के अन्तर्गत द्वितीय भेद के प्रसंग में-) पंडितराज जगन्नाथ ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता अप्पय दीक्षित की अर्थ-चित्र विषयक स्थापना का ही नहीं, वरन् समस्त धारणा का खण्डन स्वयं 'चित्रमीमांसा-खण्डन' लिखकर किया। ऐसी दशा में चित्र-काव्य की सम्पूर्ण धारणा को दृष्टि में किये बिना अर्थ-चित्र के संबंध में किसी महत्वपूर्ण निष्कर्ष तक पहुँचना संभव नहीं है।

ध्वनि-सिद्धान्त की गौरवपूर्ण स्थापना के युग में जिस समय भरतीय काव्य-चिंतन दृढ़ता प्राप्त करता हुआ अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था, उसी समय ध्वनि के आधारभूत तत्व व्यंग्य की प्रधानता, गौणता तथा अनुपस्थिति की त्रिधा स्थितियों में कल्पना करते हुए काव्य के ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र, ये तीन (तारतम्य मूलक) भेद किये गये तथा पंडितराज के समय तक और बाद में भी ध्वनि (व्यंजना) को ही उत्कृष्ट काव्य का मुख्य निर्धारक तत्व स्वीकार किया गया। चित्रकाव्य की धारणा का आविर्भाव कदाचित् सर्वप्रथम 'ध्वन्यालोक' में हुआ। उसमें पूर्व पक्ष और सिद्धांत पक्ष, दोनों के अन्तर्गत इस बात को स्पष्टतः स्वीकार किय गया है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं, जो किसी भी प्रकार की चित्तवृत्ति को उपजनित न करे, अतएव काव्य का ऐसा कोई प्रकार नहीं है, जिससे रस, भाव, अनुभाव आदि की प्रतीति न हो। अतएव चित्रकाव्य की स्थिति तभी संभव है, जब कवि को उनकी प्रतीति अभीष्ट न होकर व्यंग्यार्थरहित केवल चित्रत्व अभीष्ट हो, जो अर्थगत और शब्दगत, दोनों प्रकार का हो सकता है। इस चित्रत्व को 'ध्वन्यालोक' में निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया गया है-

केवल वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्ध

आलेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।

अर्थात्-"जिसमें केवल वाच्य-वाचक के वैचित्र्य का आश्रय ग्रहण किया गया हो और जिसका रूप आलेख्य या चित्र अथवा प्रतिकृति के समान हो वही 'चित्र' है।"

(यत्तु अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यम् इत्यादि काव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम, तत्र। तेषां गुणीभूतव्यंग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालङ्कारिकसंमतत्वात् ।

1. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ0 144 तथा 124)

प्रतिक्रिया का भाव 'बिम्ब' शब्द में भी निहित है। रूपात्मकता या गोचरत्व और आंतरिक सादृश्य, दोनों उसकी आवश्यक विशेषताओं में से है। किन्तु 'आलेख्यप्रख्यं' का सही तात्पर्य उस काल में क्या समझा जाता था, यह जानना आवश्यक है; तभी दोनों के बीच किसी सम्बन्ध का निर्देश करना उचित होगा।

'ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनव गुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

रसादि जीवरहितं मुख्य प्रतिकृतिरूपम्

इससे इतना प्रमाणित हो जाता है कि जिस काव्य में रसोद्रेक की क्षमता न हो, जो निष्प्राण या क्षीणप्राण हो, किन्तु जिसमें प्रतिकृतिवत् रूप-सादृश्य का वैचित्र्य समाविष्ट हो, वही चित्रकाव्य है। निमोलिताक्षीव भियामरावती में बन्द द्वार वाली पुरी और बंद नेत्रों वाली भयभीत स्त्री के बीच ऐसा ही रूप-सादृश्य देखकर मम्मटाचार्य ने उसे अर्थचित्र के रूप में उदाहृत कर दिया, जिसमें उनसे थोड़ी चूक हो गयी; पर अपनी समझ से उन्होंने कोई गलत काम नहीं किया, क्योंकि 'ध्वन्यालोक' और अभिनव गुप्त का उक्त आधार उनका पथ-प्रदर्शक था। आगे चलकर विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में सभी प्रकार के चित्रकाव्य को गले का घेघा 'काव्यान्तर्गत गडुभूततया' बताया और उल्लेख मात्र करके छोड़ दिया।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि क्या ऐसे सादृश्य-विधान में निजी आस्वाद्यता नहीं होती और यदि होती है, तो उसे रसात्मक आस्वाद्यता से इतना हीन क्यों माना जाये कि आकर्षण के रहते हुए भी उसे युक्त काव्य को अधम कोटि में रखने की विवशता उत्पन्न हो। स्पष्ट है कि इस बिम्बात्मक आस्वाद्यता की सूक्ष्मताओं में भारतीय काव्य-चिन्तक ने प्रवेश नहीं किया, क्योंकि नाट्य क्षेत्र से आकर रस-सिद्धान्त ने उसके रूप-बोध को इतनी दूर तक अच्छादित कर दिया था कि श्रव्य-काव्य में निहित 'दृश्य-तत्व' उसकी दृष्टि में पूरी तरह आया ही नहीं और जो कुछ आया भी,

उसका यथोचित महत्व उसने आँका नहीं। दूसरा प्रश्न यह है कि रसात्मकता से समाविष्ट होने या व्यंग्य से मुक्त होने पर क्या 'आलेख्य' एवं 'प्रतिकृति' मूलक सादृश्यगर्भित यह भिन्न प्रकार की आस्वाद्यता समाप्त या तिरोहित हो जाती है। यदि नहीं, तो क्या किसी आचार्य ने उसकी स्थिति और महत्व का स्वतंत्र विवेचन किया है ? मेरा उत्तर है, नहीं। रस के भीतर व्यक्त होने वाले रूप-तत्व पर जहाँ तक मेरा ज्ञान है, किसी भारतीय काव्य-विवेचक ने दृष्टिपात नहीं किया है। जो कुछ चर्चा हुई भी, वह या तो 'गौरी लक्षणा,' 'अलंकार-ध्वनि' और सादृश्यमूलक अलंकारों के वैचित्र्य तक सीमित होकर रह गयी या इसमें उलझ गयी कि अलंकार रस के स्थायी धर्म हैं या अस्थायी। 'उपमा कालिदास्य' के कहने से ही कालिदास के काव्य में निहित विविध प्रकार के रूपगत सादृश्य-विधान की सूक्ष्मताओं का बोध नहीं हो जाता और न इतने से ही कि अमुक उपमा अमुक रस का उपकार करती है, अतः श्रेष्ठ है। हिमशिखर पर विश्रमित मेघ के लिए जब वे शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात् पंकोपमेयाम् लिखते हैं, तो इस सादृश्य में वर्ण-बोध से युक्त गतिशील सशक्त बिम्बात्मकता की जो निजी आस्वाद्यता है, उसका महत्व विप्रलंभ श्रृंगार से सम्बद्ध होने पर ही हो या उसमें बिना उसकी व्यंजना के आस्वाद्यता ही न हो, ये दोनों बातें सिद्ध नहीं की जा सकतीं। इसे चित्रत्व के कारण अधम काव्य की कोटि में रखना न केवल दुःसाहस होगा, वरन् साहित्यिक अपराध भी। यह आस्वाद्यता भिन्न प्रकार की संवेदनशीलता (sensibility) की अपेक्षा रखती है। भारतीय कला और काव्य में तो इसका व्यापक अस्तित्व मिलता है, किन्तु शास्त्र में ध्वनि, रस, अलंकार आदि के बँधे-बँधाये दायरे में सभी कुछ को समाविष्ट कर लेने की प्रकृति के कारण उसकी उपेक्षा होती रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि खड्गबंध, पर्वतबंध, डमरूबंध आदि के रूप में चित्रकाव्य चित्रालंकार तक सीमित होकर रह गया ओर अर्थ-चित्र का अस्तित्व ही प्रायः समाप्त हो गया। दास ने अपने काव्य-निर्णय में अर्थ-चित्र का जो उदाहरण दिया है, वह साधारण सांग रूपक बनकर रहा गया है। उसमें रूप-तत्व उभर कर सामने नहीं आया है। खड्ग, पर्वत, और डमरू आदि के रूप में बनने वाले आकारों का अर्थ से क्या वास्ता। शब्दालंकार भी काव्य की आन्तरिक आस्वाद्यता से इतने रहित हो गये कि रसवादी देव को खीझकर आक्रोश के साथ शब्द-रसायन में कहना पड़ा।

सरस वाक्य पद अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।

दधि, घृत, मधु, पायस तज़त, बायस चाम चबात।।

किन्तु, अप्पय दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' तक यह स्थिति नहीं थी। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' और 'काव्यप्रकाश' की परम्परा का अनुसारण करते हुए चित्रकाव्य की यही परिभषा दी कि जो व्यंग्यरहित होने पर भी चारूत्व हो, वही चित्र-काव्य है—

'यदव्यंग्यमपिचारू तच्चित्रम्।'

इसके साथ ही उन्होंने उसका शब्द, अर्थ और उभयपरक त्रिधा विभाजन करते हुए अर्थ-चित्र के प्रकरण में प्रायः समस्त अर्थालंकारों का समावेश कर लिया है। उनके पूववर्ती मम्मट ने 'उभय चित्र' जैसे कोई विभाजन नहीं किया, पर छठे उल्लास में काव्य-प्रकाश के अंतर्गत उन्होंने चित्रकाव्य के प्रसंग को पुनः उठाते हुए ऐसा संकेत अवश्य कर दिया है, जिससे ज्ञात होता है शब्दचित्र और अर्थचित्र के मिश्रित रूप भी हो सकते हैं (यथा- न तु शब्दचित्रार्थस्याचित्रत्वं अर्थचित्र वा शब्दस्य) तथा सारे अलंकार इनके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। उन्होंने मुख्यतया और गौणता के विचार से ही केवल दो भेदों की सत्ता स्वीकार की तथ इस बात का भी निर्देश किया कि बहुत से काव्य-शास्त्री रूपक, उपमा आदि कुछ अर्थालंकारों से ही विविध अलंकारों की उत्पत्ति मानते हैं—

'रूपकादिरलंकारस्तयान्यैर्बहुधोदितः'

उपमैका शैलूषी कहकर सादृश्यप्रधान उपमा को अप्पय दीक्षित ने भी उस नटी के समान बताया है, जो काव्य के रंगमंच पर नाना प्रकार का वेश धारण करके सारे अलंकारों के रूप में नर्तन करती रहती है। अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त में 'रूपक' को वही मौलिक स्थान दिया गया है, जो चित्रमीमांसाकार द्वारा ''उपमा' को मिला है। ये दोनों ही अलंकार रूप-तत्व और उसके सादृश्य को केन्द में रख कर चलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि काव्य-विवेचना में रूपगत सादृश्य को मुख्य मान कर चलना एक सही दिशा है। यदि संस्कृत काव्यशास्त्र में अधम या अवर काव्य के वर्ग में अव्यंग्य रूप में ही अर्थचित्र का विचार हुआ हो, तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आगे के विवेचक सव्यंग्य या व्यंजनापूर्ण रूपों में उसकी बहुमुखी व्याप्ति का तात्विक विवेचन और विश्लेषण न करे। मैं समझता हूँ कि अभी इस क्षेत्र में अनुशीलन की बहुत गुंजाइश है। परन्तु इसमें बाधक बनते हैं वे लोग, जो निदान करने लगते हैं कविता-अकविता की समस्या का, किन्तु मौका पड़ने पर व्यंग्य-अव्यंग्य तक का अंतर भूल जाते हैं। रोमांटिक संस्कार का विरोध करने में स्वयं रोमांटिक होकर अपने आवेशजन्य अविचार में- 'व्यक्ति को कविता नहीं माना जाता है, यदि माना भी जाता है, तो अवर काव्य।' लिख जाने वाले बेचारे नामवर जी से कौन पूछे कि भाई, यह सब कहाँ होता है ? और फिर अवर काव्य व्यंग्य को नहीं अव्यंग या व्यंग्यरहित कविता को कहते हैं तथा इस प्रसंग में व्यंग्य का अर्थ वह नहीं है, जो 'सेटायर' से मेल खाता है। सी0डी0 ल्यूइस जैसे आधुनिक पाश्चात्य काव्यविवेचक ने 'बिम्ब' का अनुशीलन काव्याभिव्यक्ति की प्रायः सभी ज्ञात स्थितियों में किया है। उनके आगे रस, अलंकार और ध्वनि की कोई पूर्व निर्धारित सीमा नहीं रही, इसीलिए उनके काव्य-विवेचन के द्वारा बिम्ब का जो रूप सामने आता है, भारतीय काव्य-शास्त्रोक्त 'अर्थ-चित्र' में उसका

लेश मात्र ही समाहित प्रतीत होता है। 'अर्थ-चित्र' में निहित रूपगत सादृश्य का तत्व खो जाता है, जब सारे अर्थालंकारों को अर्थ-चित्र से संबद्ध कर दिया जाता है। ऐसी दशा में 'चित्रत्व' का तात्पर्य 'विचित्रत्व' मात्र रह जाता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में चित्रालंकार से पूर्व शब्द-श्लेष के प्रसंग में वैचित्र्य को सारे अलंकार का आधार माना है, वैचित्र्यमलंकार इति'। अन्यत्र भी ऐसी धारणा व्यक्त की गयी है। विचित्रता किसी भी प्रकार हो सकती। उसके लिए चित्रमयता या बिम्बात्मकता की विशिष्ट मर्यादा आवश्यक नहीं है। छायावाद युग में पंत जी का ध्यान-काव्य-भाषा की इस विशेषता की ओर गया और उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा-'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है।' पर आगे शब्द की सस्वरता से जोड़कार तथा सेब के काव्यमय रूपक के मोह में पड़कर उन्होंने अपने मन्तव्य को बहुत ही सीमित कर दिया। 'भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्रराग है।' जैसा, वाक्य यह सिद्ध करता है कि 'चित्र' से उनका तात्पर्य 'दृश्य-तत्व' या 'बिम्ब' से नहीं, ऐसे 'नाद' से है, जो अर्थ से संगति रखता हो।

2. **काव्य-बिम्बविषयक पाश्चात्य धारणा**

रोमांटिक युग से लेकर वर्तमान यथार्थवादी युग तक पाश्चात्य साहित्य, विशेषतः अँग्रेजी साहित्य में 'बिम्ब' या 'काव्य-बिम्ब' की चर्चा प्रधानतः दो रूपों में हुई है। एक रूप एजरा पाउंड तथा उनके समवर्ती-अनुवर्ती लोगों की धारणाओं में मिलता है, जिसमें तत्वान्वेषण के साथ वाद-वादिता के आग्रह की पूरी झलक मिलती है और दूसरा रूप प्रायः उससे रहित शुद्ध काव्य-तत्व चिंतन का है, जिसमें काव्य-रचना के मूल में निहित वास्तविकता के स्वरूप को सही रीति से पहचानने एवं उद्घाटित करने की ही वृत्ति प्रधान है। पहली मनोवृत्ति से बिम्ब के प्रति वैसी धारणा उद्भावित होती है, जैसी पाउंड के इस वाक्य में मिलती है— It is better to present one image in a life time than to produce voluminous works.इस कथन से लगता है कि यह कवि-चिंतक 'बिंब' के आकर्षण से इतना अभिभूत है कि प्रशस्ति के अतिरिक्त उसकी सीमाएँ देख पाना उसे लिए संभव नहीं है। दूसरा रूप सी0डी0 ल्यूइस जैसे काव्य-विशेषज्ञ की निम्नोद्धृत धारणाओं से प्रकट होता है, जिनमें तटस्थता से युक्त तत्वदर्शिता तथा विश्लेषण एवं विवेचन के सिद्धान्त-प्रतिपादन की वृत्ति प्रमुख दिखायी देती है-

(i) Yet the image is constant in all poetry, and ever poem is itself an image. Trends come and go, diction alters, metrical fashions change, even the elemental subject matter may change almost out of recognition:but metaphor remains, the life-principal of poetry, the poets chief test and glory. (The Poetic image, P.no. 17)

(ii) The images in a poem are like a series of mirrors set at different angles so that, as the theme moves on it is reflected in a number of different aspects. But they are magic mirrors, they do not merely reflect the theme, they give it life and form: it is in their power to make a sprit visible. (The Poetic Image, p.no. 80.)

यह विचित्र है कि दूसरे उद्धरण में विवेचक कवि ने 'इमेज' के महत्व को प्रकट करने में विवश होकर स्वयं एक 'इमेज' की सृष्टि कर डाली, और उसी के माध्यम से काव्य में बिम्ब-विधान की व्यापक महत्ता का निर्देश किया है।

ल्यूइस ने काव्य-बिम्बविषयक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में 'बिम्ब' को केन्द्र में रखकर प्रायः उसी प्रकार काव्य मात्र को व्याख्यायित करने का उपक्रम किया है जैसे भारतीय काव्य-चिंतकों ने अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए व्यापक सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। क्रोचे के प्रातिभ अभिव्यंजनावाद के अनन्तर आविर्भूत होने वाली काव्य से सम्बद्ध यदि कोई महत्वपूर्ण पाश्चात्य धारणा है, तो यह ल्यूइस की है, ऐसा मुझे लगता है। यह सत्य है कि क्रोचे की सी अतलस्पर्शी दृष्टि और विश्लेषण-सामर्थ्य ल्यूइस में नहीं है, तथापि उनका बिम्बविषयक अभिमत यथेष्ट सैद्धान्तिक गरिमा और महत्ता रखता है उनकी तात्विक दृष्टि जिन निष्कर्षों तक पहुँचती है, उन्हें आत्मसात कर लेने से भारतीय काव्य-चिंतन का प्राचीन गौरव घटेगा नहीं, वरन् पूरक रूप में उसका ग्रहण द्वारा जो थोड़ी-बहुत रिक्तता है, उसके भर जाने से आगे का मार्ग और प्रशस्त होगा तथा विचार को नये संदर्भों में जाकर काव्य के मौलिक तत्वों के पुनर्मूल्यांकन करने की प्रेरणा मिलेगी।

मुझे ल्युइस द्वारा प्रतिपादित बिम्ब-सिद्धान्त उतना व्यापक और सर्वग्राही नहीं लगा, जितना भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त, परन्तु इतना अवश्य प्रतीत हुआ कि 'दृश्य-तत्व' का जो अनादर, उपेक्षा और कहीं-कहीं दुर्दशा भी ध्वनि-मत के अन्तर्गत हुई है, उसका परिहार तभी संभव होगा, जब हम उसे यथोचित महत्व को उन्मुक्त भाव से स्वीकार कर लें। पंडितराज ने रमणीयता के तत्व पर बल देते हुए दृश्य-तत्व से युक्त 'अर्थ चित्र' का अधम कोटि से किंचित उद्धार किया, परन्तु वे भी न तो दृश्य तत्व की विशिष्ट रमणीयता के सूक्ष्म स्वरूपों तक गये और न उसे अपेक्षित तात्विक गरिमा प्रदान कर सकें। काव्यबिम्ब की सैद्धान्तिक प्रतिपति के साथ यह कार्य अनजाने ही एक इतर देशवासी विवेचक द्वारा सम्पन्न हो गया, तो उससे लाभ उठाना ही हितकर लगता है, चाहे उसके लिए मुझे जगन्नाथ और ल्यूइस को एक संदर्भ में लाकर रख देने के अपराध का भागी ही क्यों न बनना पड़े। ऐसे अपराधों का अभ्यस्त हो चुका है, इसलिए मुझे बात की चिंता है, कहने वालों की चिंता नहीं है।

ल्यूइस के बिम्ब-सिद्धान्त की पृष्ठिभूमि

काव्य का कोई मूल्यवान् सिद्धान्त कवियों की रचना शक्ति के प्रस्फुटन और उसके व्यापक प्रभाव की पूर्वपीठिका के बिना आर्विभूत नहीं होता। 'दि पोएटिक इमेज'(The Poetic Image) नामक ल्यूइस की सैद्धान्तिक कृति, जो 'क्लार्क लेक्चर्स' के रूप में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय द्वारा पहले-पहल 1946 में मुद्रित की गयी, किन्तु पुस्तक रूप में सर्वप्रथम सन् 1947 में प्रकाशित हुई और उसी वर्ष उसके दो संस्करण हो गये तथा अब तक और भी अनेकानेक संस्करण हो चुके हैं। अधिक प्रकाशन बहुत कारणों से हो सकती है परन्तु जहाँ तक इस कृति का सम्बन्ध है, इसका कारण केवल यही है कि इसमें पहली बार कॉलराज के समय से चर्चित 'इमेज' को कविता मात्र की व्याख्या का मुख्य आधार बनाया गया, साथ ही 'इमेजरी' और 'इमेजिनेशन' के मूलभूत तत्व के रूप में उसके महत्व का व्यवस्थित ढंग से निरूपण भी किया गया। उसके बाद से जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अब तक वैसी सूक्ष्मता और व्यापकता के साथ कोई अन्य काव्य-सिद्धान्त किसी पाश्चात्य विवेचक द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया और न किसी के द्वारा ल्यूइस के मत का ऐसा प्रत्यालोचन ही हुआ कि उसकी मान्यता न्यून या समाप्त हो जाती। वस्तु-स्थिति तो यह है कि आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा में काव्य की व्याख्या के लिए जो तात्विक आधार लिये जाते हैं, 'इमेज' या 'बिम्ब' उनमें अत्यंत प्रमुख है। यह स्थिति अचानक ही उत्पन्न नहीं हो गयी, इसके पीछे प्रतीकवादी और बिम्बवादी कवियों की धारणाओं एवं कृतियों की अनुगूँज स्पष्ट सुनायी देती है। इन वादों को चर्चा का विषय बनाने में मेरा यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि नयी कविता विदेशी छाया में पल्लवित होना अपना ध्येय बना ले अथवा वहाँ के तिरस्कृत 'आउट आफ डेट' वाद यहाँ प्रतिष्ठित करने का उपक्रम किया जाये। मेरा अभीष्ट केवल इतना ही है कि सैद्धान्तिक स्तर पर 'बिम्ब' के महत्व को वादिता और अतिवादिता से रहित होकर, सही परिप्रेक्ष्य में अंकित किया जा सके तथा विशेषताओं के साथ उसकी सीमाएँ भी लक्षित कर ली जायें। इसके लिए प्रतीकवाद और बिम्बवाद की विचारधारा पर, ऐतिहासिक अनुक्रम में दृष्टिपात कर लेना अनुचित न होगा।

फ्रांसीसी प्रतीकवाद मुख्यतः सन् 1860 से '90 के बीच यथादृष्ट यथार्थवाद अथवा प्रकृतवाद (naturalism)की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रोमांटिक भावना की दूसरी लहर के रूप में आर्विभूत और प्रसारित हुआ, किन्तु उसने काव्याभिव्यक्ति की समस्या और वस्तु-बोध की आन्तरिकता के प्रश्न को जितनी गहराई के साथ उठाया, उससे प्रायः समस्त योरोपीय साहित्य प्रभावित हुआ और अमरीकी साहित्य भी उसके प्रभाव से मुक्त न रह सका। इसके प्रेरकों में नये मनोविज्ञान की ओर उन्मुख बादलेयर, विज्ञान-विरोध रहस्यवादिता के उद्भावक मलार्मे, नगर-सभ्यता के विषाक्त अनुभवों को वाणी देने वाले तथा शस्त्रीयता और पुरातनता के उग्र विरोधी रिम्बो और अभिव्यक्ति में अमूत्राता

की ओर प्रवृत्त, अनुभूतिवादी किन्तु पूर्ववर्ती रोमांटिकों से असंतुष्ट, स्वतन्त्रचेता पॉल वैलरी मुख्य हैं। इनमें मलार्मे की स्थिति सबसे विशिष्ट है।

बिम्ब-विधान को घनीभूत बनाने (condensation of imagery)पर सबसे अधिक बल उसी के द्वारा गया। रू-दे-रोमा पर स्थित उसके कक्ष के रहस्यमय वातावरण में मन्त्रवत् व्यक्त होने वाले उसके विचारों से केवल फ्रांस के कलाकर ही प्रभावित नहीं हुए, वरन् यीट्स जैसे प्रतिष्ठित अँग्रेजी कवि ने भी प्रेरणा ग्रहण की।

प्रतीकवाद को काव्य-क्षेत्र की पुनर्व्याख्या का आन्दोलन माना जाता है। इस प्रयत्न में अभ्यंतरिकता की ओर झुकाव रखते हुए बौद्धिकता का तिरस्कार, बिना किसी स्पष्ट सामाजिक उद्देश्य के मनुष्य के सचेतन, रहस्यमय व्यक्तित्व का स्वीकार और उसकी भावात्मक प्रतिक्रियाओं की जटिलता को नवनिर्मित सांकेतिक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करने के क्रम में ‘डिनोटेटिव’ से ‘कनोटोटिव’ अर्थ की सिद्धि के लिए दुरूहुता तक का समर्थन आदि सब कुछ किया गया। सीधी या बोधगम्य अभिव्यक्ति अशक्त और अनुपादेय घोषित की गयी तथा रूपक(allegory) और परम्परागत प्रतीकों का उत्कट विरोध करते हुए कवियों द्वारा प्रयुक्त वैयक्तिक प्रतीकों को ही गहन यथार्थ और प्रमाणिक अभिव्यक्ति का वाहक माना गया। बादलेयर ने प्रतीकों का महत्व उसके उस गुणविशेष के कारण माना, जो स्थूल अनुभव से परे ले जाता है; फिर उसे ही विमोचन-क्षमता(liberating value)की संज्ञा प्रदान की। जर्मन दार्शनिकों के प्रभाव से रहस्य-वृत्ति पर बल दिया गया और कविता विश्व की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति(mystic revealation of universe) का साधन बनी। अकथनीय सत्य का अनुभव केवल रोमांचों (sensations) के रूप में ही संभव बताया गया तथा प्रतीकों में ही उस अनुभव को व्यक्त करने की शक्ति निहित मानी गयी। प्रतीकवाद की ऐसी धारणाओं के ऊहापोह में रेमी दे गूरमाँ (Remy de Gourmont)नामक विचारक द्वारा दृश्य-तत्व पर कदाचित् सबसे अधिक बल दिया गया। उसके द्वारा उपयुक्त शब्द (exact word) के प्रयोग पर विशेष बल दिया गया, फलतः प्रतीकवादियों की दूसरी पीढ़ी की गति में एक मोड़ आया और वे वॉदलेयर को चेतन-अवचेतन के स्तरों वाली रहस्यमयी अप्रत्यक्ष सूक्ष्मता से कुछ हटकर ऐसे यथार्थ (real) की ओर उन्मुख होने लगे, जिसमें प्रत्यक्ष रूप-बोध का समावेश एवं ग्रहण भी संभव था। यह विचित्र है कि सारे प्रतीकवादियों के बीच गूरमाँ ने ही काव्य की संरचना में उस दृष्टि (vision) की महत्ता पर भी बल दिया था, जिसमें कवि के लिए आवश्यक होता है कि वह वस्तु के दृश्य-रूप और तज्जन्य अनुभव के स्तर से ऊपर उठ कर ‘विजन’ के स्तर का स्पर्श कर ले।Sense and Sensibility in Modern Poetry P.No. 70 महत्व-निर्धारण के उद्देश्य और ढंग में अंतर हो सकता है, पर यह स्पष्ट है कि काव्य में निहित दृश्य-तत्व की ओर गूरमाँ की दृष्टि गयी और इतना ही नहीं, यह भी

संभव माना गया है कि उसके विचारों इलियट को अपनी 'इमेज' विषयक धारणाएँ विकसित करने की प्रेरणा भी दी हो। (Quite possibly Eliot's concern with precise image that is also unconsciously general is his answer to Gourmont's demands. गूरमाँ का प्रभाव इलियट पर ही नहीं, वरन् उनके काव्य-चिंतन को मूलतः प्रेरित करने वाले एजरा पाउण्ड पर भी पड़ा। बिम्ब के अतिरिक्त मुक्त छंद के विषय में भी गूरमाँ ने पाउण्ड को प्रभावित किया। Pound looked especially to Gourmont for instruction in versification, believing that he knew more about it than ' any one alive .

प्रतीकवादियों के काव्य में किसी केन्द्रित बिम्ब को उभार कर उसके काव्योपयोग के स्थान पर अभिव्यक्ति के प्रतीक मूलक क्रम में स्वभावतः उद्भूत,बिम्ब-श्रृंखलाओं (succession of images) का प्रायः असजग प्रयोग मिलता है। प्रतीकों से इनका संग्रथन कवि के वैयक्तिक संदर्भों द्वारा होता है, जिससे उनका स्वरूप स्फुट न होकर कवि के निजी प्रतीक-जाल में बहुधा खोया हुआ दिखायी देता है। बिम्ब विशेष की पूर्णता और स्पष्ट प्रयोग की ओर प्रतीकवादी कवि प्रवृत्त नहीं हुए। संभवतः उनके प्रतीकों की दुर्बोधता और अवचेतन रहस्यों की अरूपात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में श्रृंखलित और एकाकी, दोनों प्रकार के बिम्बों का सजग प्रयोग योरोपीय साहित्य में आरंभ हुआ, जिसकी एकाकी, दोनों प्रकार के बिम्बों का सजग प्रयोग योरोपीय साहित्य में आरंभ हुआ, जिसकी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा बिम्बवादियों द्वारा प्रदान की गयी। बिम्बवादियों ने प्रतीकवादियों से प्रेरणा भी ग्रहण की और उनके विचार-वृत्त को तोड़कर उससे बाहर निकलने और नयी शिल्प-दृष्टि देने की चेष्टा भी की। किसी परिवर्ती आन्दोलन का अपने पूर्ववर्ती आन्दोलन से इस प्रकार का सम्बन्ध अस्वाभाविक नहीं है। हिन्दी में भी प्रयोगवाद ने अपने पूर्ववर्ती छायावाद-प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया को भी अभिव्यक्ति दी और उनकी उपलब्धियों से लाभ उठाकर उनसे प्रेरणा भी ग्रहण की। कोई आरंभ सर्वथा शून्य में नहीं होता, न ही हो सकता; इसलिए हर नये वैचारिक संघर्ष के नीचे तल-सम्बन्ध बना रहता है। जो विचार संघर्ष करते-करते धरती को छोड़ देते हैं, उनकी क्या गति होती है, मैं नहीं जानता।

काव्य के विषय में बिम्बवाद ने कविता को गद्यात्मकता से बचाये रखने के लिए तथा काव्य-भाषा के परिशोधन के लक्ष्य से जिन नयी धारणाओं का प्रवर्तन किया, उनमें विषय-वस्तु की अरूढ़िबद्धता, अर्थ की सघनता, स्पष्ट और सीधी अभिव्यक्ति तथा दृश्य-तत्व का प्रत्यक्षवत् बोध सर्वोपरि है। नयी लयों की रचना पर भी बल दिया गया। 1913 के मैनिफेस्टो की तीसरी धारा में 'मैट्रोनोम' परक क्रम के स्थान पर संगीतात्मक वाक्यांशों के क्रम में रचना करने का विधान किया गया। बिम्बवादियों का विश्वास था कि सघन अथवा केन्द्रीभूत अर्थ कविता का प्राण है (concentration in the very essence of poetry) प्रतीकवादियों की तरह धूमिल कुहाच्छन्न

रहस्यात्मक अस्पष्ट और दुर्बोध अर्थ उन्हें इष्ट नहीं था। निश्चित रूपरेखा वाली दृष्ट और स्पष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति उन्हें परितोष देती थी। उपयुक्त और लयान्वित भाषा में काव्य-वस्तु का सीधा बिम्बात्मक संप्रेषण कवि की कुशलता का द्योतक माना जाता था। प्रतीकवादी काव्य की जटिलता और दुरूहता से बिम्बवादी कितना ऊब चुके थे कि इसका मनोरंजक उदाहरण पाउण्ड द्वारा प्रस्तुत की गयी 'इमेज' की निम्नलिखित प्रथम परिभाषा में मिलता है, जिसमें लेखक ने न केवल 'कॉम्पलेक्स' शब्द का प्रयोग अतिरिक्त सजगता से किया है, वरन् उसका स्पष्टीकरण भी दे दिया है।(An “image” is that which presents an intellectual and emotional complex in an instant of time . I use the term “complex” rather in the technical sense employed by the newer psychologists such as Hart.

सन् 1914 में वोर्टिसिस्ट आन्दोलन (vorticist movement) के आरंभकर्ता जैकब एप्स्टीन (Jacob Epstein) और विन्ढम ल्यूइस(Wyndham lewis) के मत से प्रभावित होकर एजरा पाउन्ड ने बिम्ब की नयी परिभाषा प्रस्तुत की, जिसमें कॉँम्पलेक्स, शब्द 'वोटेंक्स' या 'क्लास्टर' द्वारा स्थानान्तरित कर दिया गया। (The Background of Modern poetry, P.No. 34.)

It is a vortex or cluster, of fused ideas and is endowed with energy. (The Background of Modern poetry, P.No. 36.)

'एनर्जी' शब्द पर व्यंग्य करते हुए ग्रंथकार जे0 इजाक्स (J. Isaacs)ने लिखा है कि अगर एजरा पाउण्ड 'इमेज' की व्याख्या में रूचि न खो बैठते, तो एक दिन वह एटम बम ही बन जाती। किन्तु वे भूल गये कि वोर्टिसिस्टो ने अपने पत्र का नाम 'blast'रख कर उसका कार्य पहले ही सम्पन्न कर दिया था। इसमें संदेह नहीं कि पाउण्ड बिम्ब की संभावनाओं को बहुत दूर तक खींच ले गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से बिम्बवादी आन्दोलन में पाउण्ड का प्रभुत्व तब हुआ, जब वह विकास का, पहला चरण पार कर चुका था।

इस चरण का आरम्भ सन् 1908 से माना जाता है, जब अमरीकी कवि टी0 ई0 ह्यूम (T.E. Hulme) द्वारा मात्र कवियों की एक संख्या (Poets Club)की स्थापना की गयी और एक पत्रक भी प्रकाशित किया गया। इसमें ह्यूम की शिशिर (autumn)शीर्षक रचना छपी, जिसे प्रथम सर्वप्रसिद्ध बिम्बवादी कविता कहा गया है। चन्द्रमा के लिए और तारों के लिएldren जैसी सादृश्यमूलक अप्रस्तुत योजना अब बहुत साधरण लगती है, यद्यपि परम्परा-विरूद्ध होने के कारण उस काल में उसने लोगों को चैंकाया और उत्तेजित भी किया। क्लब के एक अन्य सदस्य एडवर्ड स्टोरर (Edward Storer)के 'मिरर्स आफ इल्यूजन' नामक काव्य-संग्रह में उसी वर्ष 'इमेज' नामक तीन पंक्तियों की एक अन्य कविता प्रकाशित हुई जो इस प्रकार है—

Forsaken lovers,

Burning to chaste white moon,

Upon strange pyres of loneliness and draught.

पूर्वोक्त कविता के सादृश्य की अपेक्षा इसके सादृश्य-विधान में विम्बात्मकता अधिक है, परन्तु कुल मिलाकर यह भी अब असाधारण नहीं लगती। दोनों ही कविताओं में प्रकृति की सुपरिचित वस्तुओं के लिए अपरिचित और परम्परा से हटकर सादृश्य खोजने की चेष्टा है। इनमें दृश्य-तत्व को उभारने में जितनी नवीनता लायी गयी है, उससे अधिक प्रयत्नशीलता व्यक्त होती है और वस्तु-बोध की विधि में भी क्रान्ति लक्षित नहीं होती। अमरीका में ही इनके द्वारा आन्दोलन हो सका। कदापि कोई क्रान्ति संभव नहीं होती, यदि यह फ्रांस के प्रतीकवादी काव्य के बाद वहाँ लिखी गयी होती, क्योंकि रिम्बो की 'दि स्लीपर इन दि वैली' जैसी कविताओं में इससे कहीं अधिक सशक्त बिम्बात्मकता समाहित मिलती है। The whole/valiey bubbled with subeams like a bear-glass अथवा मात्र अल्प कथन A blue eye rolls कहीं अधिक शक्ति और काव्यात्मकता है। प्रत्येक देश के संस्कार भिन्न होते हैं और अपने निजी परिवेश में ही उनकी सक्रियता प्रतिफलित होती है। अमरीकी बिम्बवादी आन्दोलन वहाँ थोड़ी सी ही सैद्धान्तिक पूँजी को लेकर चला था, अतः सृजनशीलता को वेग देकर भी थोड़े ही समय में रंक हो गया। कार्ल सैण्डवर्ग की प्रसिद्ध कविता 'लेटर्स टु डेड इमेजिस्ट्स' उसकी वादी मनोवृत्ति का संहार प्रस्तुत करती है। 'दि इगोइस्ट' नामक पत्र के विशेषांक में ह्यूम के एक अन्य सहयोगी कवि एफ0एस0 फ्लिन्ट(F.S. Flint)ने 'इमेजिज़्म' का संक्षिप्त इतिहास प्रकाशित किया, जिसमें उसने अपने 'ग्रुप' पर 'फ्रेंच सिम्बॉलिस्ट' कविता का प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार किया। अमरीकी कवि समीक्षक जे0एम0 ब्रिनिन (J. M. Brinin) के मत से इस प्रभाव ने काव्य-क्षेत्र में परिशोधन का कार्य किया। (New world writing, 229) यह प्रभाव नितान्त प्रारम्भ में पाउण्ड पर ही नहीं पड़ा, क्योंकि उसको तब तक प्रतीकवादियों का अस्तित्व ही स्वीकार्य नहीं था, बाद में ऐसी स्थिति नहीं रही और पाउण्ड ने भी उनको खुलकर स्वीकार किया। यहाँ तक कि वही अमरीकी कविता पर उनके प्रभाव के मुख्य वाहक बन गये।

विकास के दूसरे चरण में 'इमेजिस्ट' अभिधान के प्रचार के साथ एजरा पाउण्ड का प्रभुत्व आरम्भ हुआ। 1912 से 1922 तक के दशक में काव्य-रचना की इतनी बाढ़ आयी कि सहस्त्रों कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित हो गये। केवल कविता के क्षेत्र तक अपने को सीमित रखने वाली 'पोएट्री रिव्यू' आदि अनेकानेक पत्रिकाएँ सामने आयीं, जिनसे बिम्बवादी विचारधारा को पोषण मिला। इस आन्दोलन को 'इमेजिस्ट' संज्ञा पाउण्ड के ही बिम्बविषयक आग्रहपूर्ण विचारों के फलस्वरूप प्राप्त हुई

तथा आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली आदि देशों में उसके निवास ने उसकी विचारधारा के प्रभाव को अमरीका से बाहर योरोपीय देशों तक विस्तारित किया। आयरलैण्ड में पाउण्ड यीट्स से काव्य-शिक्षा ग्रहण करने गये थे, परन्तु परिणाम उलटा हुआ। 'लर्नेड कम्पेनियन' की तरह वे उन्हें 'डेफिनिट' और 'कंक्रीट' की ओर ले गये, फलतः स्वयं गुरू शिष्य के प्रभाव में आकर काव्यगत अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नये प्रयोगों की ओर उन्मुख हो गये। इलियट पर तो पाउण्ड का प्रभाव उससे भी अधिक गहरा पड़ा। उनकी बहुत सी काव्यविषयक धारणाओं का मूल विचार-स्त्रोत पाउण्ड के काव्य-चिंतन में मिलता है। 'नयी कविता' के पिछले 'संयुक्तांक' में इसकी ओर निर्देश किया जा चुका है। उन्हें 'वन मैन यूनिवर्सिटी' या डीन आफ मॉडर्न पोएट्स' जैसी रोचक उपाधियों से स्मरण किया गया है। ये कई अर्थों में अर्थशास्त्री थे, कविता के तो विशेषतः। इलियट को पाउण्ड के काव्य-विवेक पर इतनी अस्था थी कि उन्होंने अपने युग-काव्य 'वेस्टलैंड' के संशोधन का पूर्ण अधिकार उन्हें दिया और अन्त में उन्हीं को ग्रंथ भी समर्पित कर दिया। अंग्रेजी काव्य में बिम्बवाद के प्रभुत्व और काव्याभिव्यक्ति में 'बिम्ब' के महत्व-संस्थापन का प्रमुख श्रेय पाउण्ड को ही है। उन्होंने मध्यकालीन क्रूरता और जड़ता के विरूद्ध actionका सिद्धान्त रखा। ऑडेन-स्पेंडर-ल्यूइस-मैकनीस की अगली पीढ़ी ने यीट्स-पाउण्ड-इलियट को पिछली पीढ़ी से अभिव्यक्ति-शिल्प और काव्य सिद्धान्त के क्षेत्र में बहुत कुछ रिक्त ग्रहण किया और उनकी कविता में प्रतीकवाद और बिम्बवाद की समग्र चेतना अपने थिराये हुए रूप में परिलक्षित होती है। बिम्बात्मक प्रतीक (imagistic symbol)का उदय इसका प्रमाण है।

बिम्ब का मुख्य कार्य अनुभूत वस्तु का प्रस्तुतीकरण(Presentation) है और प्रतीक की सार्थकता किसी विचार या प्रत्यय के प्रतिनिधित्व (representation)में मानी जाती है। इलियट ने प्रतीक को विचार और संवेदन, दोनों का संवाहक माना है। काव्यभाषा में यही सभी आवश्यकताएँ प्रायः अनिवार्य है। 'बिम्बात्मक प्रतीक' की धारणा उक्त दोनों कार्यों अर्थात् प्रस्तुत और प्रतिनिधित्व के संश्लेषण एवं समीकरण का प्रतिफल है। शब्द से वस्तु-बोध के साथ-साथ उस अवधारणा का भी बोध होता है, जो उस वस्तु में निहित रहती है या उस पर प्रयोक्ता द्वारा आरोपित कर दी जाती हैं। अतः शब्दार्थ का एक पक्ष बिम्बात्मक और दूसरा प्रतीकात्मक होता है तथा ये दोनों रूप परस्पर एक दूसरे की न्यूवता को पूरा करते चलते हैं। अँग्रेजी का सजग कवि इनको समतोल बनाये रखने की चिन्ता किसी न किसी रूप में बराबर करता रहा है, क्योंकि उसको वस्तु-बोध और अभिव्यक्ति, दोनों ही क्षेत्रों में बिम्ब की सीमाएं भी दिखायी देती रही है।

(Symbols that are also images, are, if not the poets most immediate concern, at lest a primary contemporary concern, because the image as a form of knowledge and artistic impression has for several centuries been suspect.)

Senses and Sensibility in Modern Poetry – P.no. 111

किसी बिम्ब द्वारा प्रस्तुत अर्थ एक होते हुए भी उसके अनेक प्रतीकार्थ हो सकते हैं, क्योंकि बिम्ब एक साथ अनेक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व कर सकता है या उसे भिन्न-भिन्न अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है।

(When used in “an image that is sure, that is as a qualitative part of perceptions that express symbolic values the colors become the difference between abstract understanding and an experience that stirs us profoundly. P.no. 115.)

जैसे निश्चित बिम्ब के द्वारा उत्पन्न वर्ण-बोध अनेक प्रतीकार्थों का द्योतक माना जा सकता है। ऐसी दशा में वर्ण स्वयं एक अमूर्त्त बौद्धिक ग्रहण और प्रत्यक्ष अनुभूत गहन संवेदन के बीच के अन्तर बन कर रह जाते हैं। अवस्था विशेष में बिम्बात्मक प्रतीक अमूर्त्त प्रतीक का कार्य भी कर सकता है।

(The imagistic symbol may serve, even as the abstract symbol, as an organizing principal, a means of gathering up isolated strands into a pattern that is amenable to an act of perception. If this were its sole function the abstract symbol, which is denotative and tract able would be a prederable medium of expression. P.No. 117)

उदाहरणर्थ वह संगठनात्मक नियम या सूत्रबद्धता का आधार बनाकर आ सकता है या फिर बिखरे हुए स्फुट तन्तु-छोरों को एकत्र करके उन्हें एक ऐसी रूप-विधा में परिणत कर सकता है, जो दृश्यात्मक हो। यदि केवल इतना ही कार्य मूर्त प्रतीक का माना जाये, तो अमूर्त प्रतीक को उसकी तुलना में अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम मानना पड़ेगा, क्योंकि वह अधिक ज्ञापक और सहज साध्य होगा। किन्तु जो भाषा दृश्य-तत्वयुक्त अर्थों को सर्वथा छोड़कर चलने का संकल्प करती है, वह संगीत की वाहक हो सकती है, कविता की नहीं। Language that attempts to divorce itself from perceivable meanings aspire to be music, not poetry. P.no. 118

काव्य-भाषा की सार्थकता अमूर्त्त की ओर जाने में नहीं, मूर्त की ओर जाने में है। जो लोग कला के क्षेत्र से अमूर्त्त की प्रेरणा लेकर उसे काव्य के क्षेत्र में स्थापित करना चाहते है, वे भाषा की मूल प्रकृति को ही ठीक से नहीं समझते। अंग्रेजी कवियों की बिम्बात्मक प्रतीक की ओर प्रगति दृश्य-तत्व अथवा ‘बिम्ब’ को अस्वीकार करके नहीं, वरन् उसे प्रतीक के साथ स्वीकृत और आत्मसात करके हुई है।

भाषा की सामान्य प्रकृति पर विचार करते हुए बरट्रेण्ड रसेल ने लिखा है—(Images, in fact act as symbols, just as words do. An Inquiry into Meaning an Truth –P.no. 228) उन्होंने इस प्रकार बिम्बो द्वारा प्रतीकों के कार्य-साधन को मान्यता प्रदान की है। संवेदन-प्रक्तिया से बिम्बों का कितना गहन सम्बन्ध है और दृश्यात्मक अनुभव कितनी अधिक संवेदना जगाता है, इसकी ओर भी उनके द्वारा निर्देश किया गया है।

(What is important is that sensations are rounded out by spontaneous images or expectations of their usual accompaniment ...in any perceptive experience. The senory core has higher inferencial value than the rest. P.no. 114-116.)

पृष्ठभूमि बताते-बताते मैं कुछ आगे की जमीन में प्रवेश कर गया, परन्तु बात आवश्यक लगी, इसीलिए उसका आखिरी पहलू भी सामने रख दिया। आखिरी इस अर्थ में नहीं कि अब इसके आगे गति नहीं है। वरन् इस अर्थ में कि अब तक पाश्चात्य कविता अपने विकास-क्रम में भाषागत अभिव्यक्ति की समस्या को लेकर कदाचित् यहीं तक पहुँच सकी है। विचारात्मक और रचनात्मक, दोनों दिशाओं से चलकर उसने इसी बिन्दु का स्पर्श किया है और अब वह आगे की गति खोज रही है। ल्युइस की बिम्ब विषयक सैद्धानितक स्थापनाएँ इस अन्तिम बिन्दु से कुछ पहले किन्तु प्रतीकवाद और बिम्बवाद के पूरे अनुभव को सहेजने के बाद की मनोदशा में आविर्भूत हुई है।

'काव्य-बिम्ब' विषयक ल्यूइस की मुख्य सैद्धान्तिक स्थापनाएँ

ल्यूइस ने प्रतीक को सघन बिम्ब का विरोधी प्रतिरूप माना है, क्योंकि प्रतीक ज्ञापक और एकार्थी होता है, जैसे संख्यामूलक T इकाई का प्रतिनिधितव करता है; अतः कविता में बिम्ब शायद ही कभी कुछ प्रतीकात्मक अवस्था में दिखायी दें, विशेषतः तब जब कि वे संदर्भगत भाव-स्पंदनों से इस प्रकार प्रभावित हो कि प्रत्येक पाठक उनके प्रति अपने वैयिक्तक अनुभव उन्मुख है।

(An intense image is the opposite of a symbol. A symbol is denotative, it stands for one thing only, as the figure I represents one unit. Images in poetry are seldom purely symbolic, for they are affected by the emotional vibrations of their context. so that each reader's response to them is apt to be modified by his personal expreience. – The Poetic Image, p.no. 40-41)

अपने मन्तव्य को उन्होंने whiteशब्द के बिम्बात्मक प्रयोग के अनेकार्थी सांकेतिकता और उसकी विविध भावानात्मक छायाओं को कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया। सारे प्रतिपादन से यह प्रकट हो जाता है कि बिम्बात्मक प्रतीक (imagistic symbol) की धारणा उनकी प्रतीकविषयक मान्यता से सहज सिद्ध नहीं होती और उनके बिम्ब-सिद्धान्त से वह मेल नहीं खाती। वह अधिक से अधिक' 'प्रतीकात्मक बिम्ब' तक ले जाती है। बिम्ब के आधुनिक प्रयोग को अपने समय तक की समस्त आधुनिक कविता में लक्षित करते हुए उन्होंने यह धारणा अवश्य व्यक्त की है कि प्रतीकवादियों के समय से अब तक बिम्ब-विधान में पुरानी कार्य-कारणपरक संगति से युक्त बिम्ब-क्रम के स्थान पर बौद्धिक असंगति की प्रवृत्ति (atenndency towards the illogical) मिलती है। संभवतः 'बिम्बात्मक प्रतीक' भी इसी की एक परिणित है, जिसे ल्युइस कल्पित न कर सके, क्योंकि वे स्वयं बिम्ब और प्रतीक के बीच बौद्धिक संगति खोज रहे थे। ऐसा बहुधा होता है कि जिस बात का सिद्धान्तकार के पैमाने से समाधान नहीं हो पाता, वह कवियों की सृजन-शक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष हो

जाती है और बाद में सिद्धान्त में संशोधन होता रहता है। मैं किसी भी काव्य-सिद्धान्त को मौलिक सृजन-शक्ति के ऊपर नहीं मानता। बिम्ब के सम्बन्ध में ल्यूइस की धारणा जितनी गहरी और विशाल है, प्रतीक के विषय में उतनी ही संकीर्ण दिखाई देती है। यह आवश्यक नहीं है कि सारे प्रतीक एकार्थी ही हों और पाठक अपने अनुभव से उनका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण न करते हों या कवि ही सदा उनके प्रयोग में संख्यार्थ की तरह निश्चय का भाव रखते हों। प्रतीक व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त का संकेत, व्यक्त को साधनरूप में ग्रहण करते हुए करता है, किन्तु बिम्ब में व्यक्त और अव्यक्त की एकात्म-स्थित दिखायी देती है, यद्यपि उसमें भी गति व्यक्त से अव्यक्त भाव की ओर ही रहती है, ऐसी दशा में दोनों की समीकृत स्थिति दो विभिन्न कार्यों का समीकरण है, जो कार्य के प्रकार-भेद और दिशा-भेद के कारण संभव हो जाती है। बिम्ब पर अर्थ का इतना भार नहीं पड़ना चाहिए कि दुरूहता हो जाये, अन्यथा ल्यूइस के अनुसार वह ऐसी आधुनिक असफलता (modern failing) होगी, जो पहले से भी होती आयी है। यद्यपि कभी-कभी अमर्तता गुण बनकर बिम्ब को शक्ति भी प्रदान करती है।

बिम्ब के आधुनिक प्रयोग की जिन पाँच मुख्य कठिनाइयों की ओर ल्यूस ने दृष्टिपात किया है, वे इसी प्रकार हैं Animism lies surely at the very source of the poetic image. p.no. 105

1. विशेषतः आधुनिक बिम्ब-सामग्री (modern image material का अर्थहीन और अप्रयोज्य (obslete)होते जाना।

2. ऐसी सामग्री का अपरिचित होना और इस प्रकार भावात्मक सम्बन्धों की स्वल्पता के कारण काव्यात्मक प्रभाव के लिए कम उपयोगी होना।

3. आधुनिक कवि के पास लोकप्रिय माध्यम की अनेकरूपता का न होना, जैसे काव्य-नाटक या व्यंग्यात्मक अथवा वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य, जिससे उसको अनेक प्रकार की नयी बिम्ब-सामग्री को प्रस्तुत करने का क्षेत्र मिलता।

4. पुरानी अतिरंजनात्मक पूर्णता और अतिशय परिष्कृति से युक्त अभिव्यक्ति प्रणाली, जिसका प्रयोग पूववर्ती कवि काव्य-संगीत को स्पष्ट करने या उस पर बल देने के लिए करते थे, का सही या गलत बहिष्कार करना परिणामस्वरूप विवशतापूर्वक कविता के ताने-बाने में अत्यधिक खिंचवा पैदा करते हुए सारी अभिव्यक्ति के लिए केवल बिम्बों तक सीमित रह जाना।

5. आधुनिक बिम्बों के सफल प्रयोग के लिए कवि का वास्तव में आधुनिक होना-केवल समसामयिक विचारों को समझने के ही स्तर तक नहीं, वरन् वर्तमान की विचित्र विसंगतियों और जटिलताओं को आत्मसात करते हुए उनके प्रति सहानुभूतिशील होने के स्तर तक।

आज के नये परिवेश में कवि की बदली हुई स्थिति को लक्षित करते हुए बिम्ब-प्रयोग की और भी कठिनाइयाँ निर्दिष्ट की जा सकती है, साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि उसने इनमें से कुछ पर एक सीमा तक विजय भी प्राप्त कर ली है, यद्यपि जटिलता से उसे मुक्ति नहीं मिल सकी है और शायद अब मिलेगी भी नहीं। आज के युग में व्यक्ति-चेतना के जागरित होने के कारण सारे बिम्ब ऐसे नहीं होते कि सबकी कल्पना में सहज ग्राह्य हो सकें; यह आधुनिक कवि की वास्तविक समस्या है। वस्तु-जगत् में भौतिक के नीचे प्रवाहित चेतना और उसकी तदनुरूप विविधता और परिर्वतनशीलता बिम्बों की चैतन्य या जीवात्मक (animistic)बनाती है और ल्यूइस के मत से यह 'एनिमिज्म' सारे काव्य-बिम्बों के मूल में ही निश्चयपूर्वक निहित मिलता है ।(The poetic image, p.no.107) मानवीकरण (personification)और प्रकृति से भाव-तादात्म (pathetic fallacy) दोनों ही आदिम चैतन्यवाद (animism) के अवशेष हैं और बिम्बात्मक चेतना भी उससे संपृक्त होकर व्यक्त होती है।

ल्यूइस का यह एक केन्द्रीय विचार है कि कोई भी बिम्ब अपने आपको स्वतः बिम्बित नहीं करता— an image does not image itself. इसका अभिप्राय यही है, कि कोई बिम्ब स्वयं अपने लिए उपयोगी नहीं होता, उसकी सार्थकता कविता के लिए होती है, जिसके स्वरूप का निश्चय रचना-क्रम में होता है। कवि भी बिम्ब के अर्थ और स्वरूप को पहले से निश्चित करके नहीं चलता। इसी विचार को उन्होंने एक अन्य स्थान पर सम्पूर्ण कविता के एक पूर्ण बिम्ब होने की स्थिति को संभव मानते हुए व्यक्त किया है।

(Since no image/images itself, if a whole poem is to be a total image, it must represent some whole thing. p.no. 149) कवि का प्रेरक वस्तुओं से भावात्मक तादतम्य बिम्ब-रचना का प्रथम सोपान है और विकसित होने पर यदि कविता का बिम्ब-विधान अर्थहीन, बाधक चमत्कृतियों की श्रृंखला मात्र होकर रह जाता है, या उससे किसी सुगठित रूपरेखा(pattern of imagery) की सृष्टि नहीं होती, तो मानना हो कि कवि की रचना-शक्ति की अनुभूति के साथ अन्तर्संगठन शिथिल रहा। (The poetic Image, p.no. 65,67) ल्यूइस ने तृतीय अध्याय में बिम्ब रचना के इस पक्ष की मुख्य परीक्षा की है। उनकी मान्यता है कि बिम्बो से कवि की काव्यात्मक सहानुभूति प्रकट हो जाती है। The nature of poetic sympathy is revealed in images. p.no. 66.कविता की रचना किसी प्रभाव (impression)से प्रारंभ होती है और अनुभूति की नदी को एक बूँद एक बिम्ब के रूप में प्रस्फुटित (crystallized) होती है। (वही, पृ0 68) रचना-क्रम की दूसरी स्थिति ध्यान के अचेष्टित घनीभूत

केन्द्रण की होती है, जिसमें यीट्स के अनुसार संकल्प (will) और प्रज्ञा (intellect), दोनों के व्यापार परिशमित हो जाते है, एक तीव्र गति के साथ बिम्ब सामने आते दिखायी देते हैं। भारतीय शब्दावली में काव्य-सृजन की यह स्थिति कुछ-कुछ निर्विकल्प समाधि जैसी ज्ञात होती है। यीट्स ने इसे trance like state कहा है। एक उर्दू कवि के इस कथन में कि 'बादल से चले आते हैं मंजमूँ मेरे आगे' कदाचित्, ऐसी ही सृजन-अवस्था का संकेत मिलता है। यीट्स के आधार पर ल्यूइस ने इस दूसरी स्थिति को प्रज्ञा का परिशमन या उसकी निवृत्ति (suspension of intellect)कहना उपयुक्त समझा है। (वही, पृ0 69) तीसरी स्थिति में कवि की रचनात्मक चेतना जाग्रत हो जाती है और कविता के आन्तरिक रूप के प्रकाशन के साथ-साथ सम्बद्ध बिम्बों के संचयन और परित्यजन की विधि आरंभ होती है। यह स्थिति दूसरी स्थिति को अन्तरावलम्बित करती हुई आती है। अचेतन मानस से उद्भूत होकर बिम्बों के स्वरूप-ग्रहण तक की इस रचना-प्रक्रिया का संकेत ल्यूइस को ड्राइवन के एक नाटक की भूमिका से प्राप्त हुआ, जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। चौथी स्थिति केन्द्रीय विम्ब के साथ (key image) अन्य ग्रहीत बिम्बों के संगठन की है।

अचेतन की गहराई से बिम्बों की उत्पत्ति की बात ल्यूइस ने जंग के मनोवैज्ञानिक विचारों से प्रेरित होकर कही है। (द्दष्टव्य, वही, पृ0 141-146) चेतन की सतह के नीचे अचेतन शक्तियों के प्रवाह में बिम्बों के आद्य स्वरूप (primordia images or archetypes) तैरते रहते हैं। इन्हें जुंग ने एक ही प्रकार के अगणित अनुभवों का मानसिक अवशेष (psychic residue)बताया है। इनमें व्यक्ति के निजी अनुभव ही नहीं, वरन् उसके वंश परम्परागत अनुभव का संचयन भी निहित रहता है। स्मृति के इन दो तलों से कविता का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्य मनोविश्लेषकों ने भी इनका महत्व घोषित किया है। सामूहिक चेतना (collective mind) से उद्भूत और शताबिदयों तक जनमानस को प्रकाशित करने वाली काव्यात्मक पुराणकथाएँ (myths) मृत हो गयी हैं और उनका स्थान काव्य-बिम्ब ने ले लिया है, जिसे वैयक्तिक कल्प-कथा (myth of the individual)भी कहा जा सकता है। यह गहराई की दूसरी दिशा है। बिम्बों के आद्य स्वरूप कवि के वैयिक्तक अनुभव एवं उसकी स्मृति के पीछे स्थित रहकर काव्याभिव्यक्ति को प्रभावित करते हैं तथा कवि की वैयक्तिक द्दष्टि (personal vision) के माध्यम से ही प्रकाश में आते हैं। अन्तद्दष्टिसम्पन्न समीक्षक ही उनके मर्म को पहचान पाता है। जुंग ने तो इन्हीं दो चेतना-तलों के आधार पर दो प्रकार की साहित्यिक सृष्टि की कल्पना कर ली है। ल्युइस ने जुंग की बात पर, सौन्दर्यानुभूति की स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए, एक भिन्न कोण से विचार किया है, जिसमें कवि जाग्रत कौशल के अतिरिक्त, अचेतन के प्रभावों को ग्रथित करने वाले स्वतन्त्र तत्व का संकेत मिलता है। इसकी सत्ता कवि और आस्वादक, दोनों में रहती है तथा इसी के कारण कवि के बिम्ब-विधान का संप्रेषण हो पाता है। हर्बर्ट रीड ने भी कला-काव्य के रूप (form) की

परीक्षा करते हुए उसे व्यवस्था देने वाली एक आन्तरिक संगठनशक्ति को मान्यता प्रदान की है और रचना-क्रम को instinctive association of words, images or sounds कहा है। ल्यूइस ने रीड से भी प्रेरणा ली है। मिस एम0 बॉदकिन(Miss Maud Boodkin) के Archeteypal Patterns in Poetry में व्यक्त विचारों को अनेक स्थानों पर उद्धृत करते हुए उन्होंने बिम्ब रचना का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसमें पर्याप्त सत्य दिखायी देता है। अलंकारों से 'बिम्ब' की जड़ें अधिक गहरी सिद्ध होती है। उसका काव्यानुभूति के भीतरी और आदिम स्वरूप से सम्बन्ध है।

यह बात थोड़ी विचित्र लग सकती है कि एक ओर ल्यूइस काव्य-बिम्ब को जहाँ आद्य स्वरूपों की अतल गहराई तक ले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर 'मेटाफर' को उसके पर्याप्त रूप में भी व्यवहृत करते दिखायी देते हैं। नितान्त प्रारंभ में जो उद्धरण दिया गया है, उससे ऐसा ही लगता है। यह सत्य है कि अलंकारों में रूपक बिम्ब के कदाचित् सबसे निकट पड़ता है, परन्तु भाव-स्तर की दृष्टि से उसे बिम्ब के समकक्ष नहीं कहा जा सकता। रूपक में वस्तु और वस्तु के बीच का रूपतामक तादात्म्य-सम्बन्ध प्रधान होता है, जब कि बिम्ब में अनुभूति ही वस्तु की गोचरता से परिणत हो जाती है तथा उससे सादृश्य का जो तत्व उभरता है, उसमें रूपक की तरह 'घटित होना' प्रधान नहीं होता। वरन् उसके द्वारा व्यक्त होने वाली अनुभूति की संदर्भ-दीप्त ही प्रमुख होती है। ल्यूइस ने रूपक को अरस्तू और मिडिल्टन मरे आदि के 'मेटेफर' विषयक मतों से प्रभावित होकर जिस रूप में ग्रहण किया है, वही अलंकार की ऊपरी सतह से भिन्न है और शायद इसी कारण उन्होंने 'इमेज और मेटाफर' के बीच अधिक दूरी रखकर बात नहीं की है। काव्य में सामान्य रूपक तो अलंकार के रूप में प्रयुक्त होता रहा, परन्तु कुछ रूपक ऐसे अवश्य हो सकते हैं, जो बिम्ब की सी गहराई लिये हों; यानी अचेतन मन से स्वतः उद्भूत हुए हों, यद्यपि उनको अलंकारों से पृथक् करना या उनका अलंकारत्व से पृथक् रहना दुष्कर है। ऐसी दशा में एक आरोप किया जा सकता है कि बिम्ब-विधान भी एक प्रकार का अलंकार विधान ही है, जिसकी व्याख्या गहराई से करने की चेष्टा की गयी है। यदि ल्युइस के 'मेटाफर' विषयक धारणा को सही रूप में ग्रहण न किया जाये, तो इस आरोप का उत्तर देना कठिन हो जायेगा। उन्होंने अनुभूति से बिम्ब का घनीभूत सम्बन्ध मानते हुए अपना यह मत व्यक्त किया है कि बिम्ब किसी 'वस्तु' का सृजन न करके 'अनुभूति के संदर्भ में वस्तु' को प्रत्यक्ष करता है। इस प्रकार बिम्ब द्वारा ग्रहीत वस्तु एक सम्बन्ध-क्रम का भाग बनकर आती है। सम्बन्ध-क्रम रूपक की प्रकृति का भी अंग होता है। वह मूलतः एक से अधिक कार्य करता है और उसमें इतनी व्यंजकता होती है कि सम्पूर्ण विश्व का आंशिक प्रातिभ आभास करा सके। प्रत्येक काव्य-बिम्ब का भी यही कार्य है कि सीमित रूप से सीमातीत (भाव) विस्तार का संकेत कर सके।

(In my opinion, it holds good for all images to the extent that every image recreates not merely an object but an object in the context of an experience, and thus an object as a part

of relationship. Relationship being in the very nature of metaphor 'a partial intution of the whole world.' Every poetic image, I would affirm, by clearly revealing a tiny portion of the body, suggests it infinite extension.

रूपक और बिम्ब के कार्य एक दिशा में समान भले ही लगें, परन्तु ल्यूइस के समस्त विवेचन को देखकर कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में भी रूपक अथवा अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा बिम्ब का क्षेत्र अधिक व्यापक और स्वरूप अधिक सूक्ष्म है। (वही, पृ0 18) बिम्ब को वे रूपकात्मक अवश्य मानते हैं, पर कुछ ही दूर तक। रूपक में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बोध का विलयन नहीं होता, जब कि बिम्ब में प्रस्तुत-अप्रस्तुत कर अन्तर अनुभूति की सघनता में तिरोहित हो जाता है। अपनी बात को मैं यों भी कह सकता हूँ कि बिम्ब-विधान में अप्रस्तुत प्रायः प्रस्तुत से ही उपजता है और प्रस्तुत का अर्थ भी वर्णित वस्तु न लेकर उससे उत्पन्न काव्यानुभूति लेना होगा।

यहाँ मुझे 'आधार' के फरवरी '63 के अंक में प्रकाशित एक रोचक परिसंवाद का स्मरण आ रहा है, जिसमें करंदीकर और पाडगाँवकर ने ल्यूइस के बिम्ब-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए रूपक से बिम्ब क सम्बन्ध और पृथक्करण का प्रश्न भी उठाया है।

काव्य-बिम्ब के विवेचन में लयूइस का सर्वत्र यही तर्क रहा है कि कल्पना के पंखों पर ऊँची उड़ान भरने और निरवेग अनुभूति के आलोक में उच्चस्तरीय सम्बन्धों का संघान करने के क्रम में बिम्ब सत्य का उद्‌घाटन करता है और उसे सहज ग्राहय बनता है। बिम्बों का पारस्परिक संग्रथन, उसके विविध अवयवों का एकीकरण जिसके द्‌वारा होता है, उसे उन्होंने भावात्मक तर्क (Emotional logic) कहा है। इसके द्‌वारा जो आवयविक सम्बन्ध घटित होता है, उसमें प्रत्येक अंश का अपना-अपना योग होता है। और प्रत्येक को उसका लाभ प्राप्त होता है। कविता का यही 'पैटर्न' है और इसी से हमें काव्य-सुख मिलता है, क्योंकि इसके द्‌वारा ही व्यवस्था और पूर्णता को हमारी आन्तरिक आकांक्षा पूरी होती है। (वही, पृ0 34 34-35, 25) कहना न होगा कि यह काव्य-सुख तन्मयतापरक रसानुभूति से भिन्न है। श्रेष्ठ है या अश्रेष्ठ, यह प्रश्न दूसरा है।

ल्यूइस ने केवल चमत्कार-प्रदर्शन के उथले भाव से प्रयुक्त बिम्ब को बिम्ब न मानकर दूरारूढ़ (Conceit) कहा है।(The Poetic Image, P.no. 91) श्रेष्ठ काव्य-बिम्ब की रचना में उन्होंने कवि की भेदक अन्तर्दृष्टि तथा सहृदयता एवं भावशीलता को अत्यावश्यक माना है। (वही, पृ0 45) बिम्बों से कविता के स्वाभाविक विकास को श्लाध्य मानते हुए परम्परा या विचार द्‌वारा आरोपित बिम्ब-विधान की निन्दा की है। (वही, पृ0 121) यही नहीं, एक स्थान पर काव्य-बिम्ब की अभिव्यक्ति के लिए पद्‌य के औचित्य का आधार यह कहकर व्यक्त किया है कि पद्‌य में अधिक सधनता बिम्बों के 'पैटर्न' में अधिक जटिल सम्बन्ध-सूत्रता तथा अर्थ की अधिक स्पष्ट अनुगूँजें सम्भव दिखायी देती है।

(वही, पृ0 88) प्रभाव की अन्विति को काव्यत्मक सत्य के सम्प्रेषण के लिए विशेष महत्वपूर्ण मानते हुए बिम्बों के पारस्परिक संग्रथन में संगति (congruity)पर बल दिया गया है तथा लय के पुनरावर्तनमूलक उस रूप की ओर संकेत किया गया, जिसमें परिचित वस्तु के नये-नये रूपों में बार-बार प्रस्तुत होने से मानसिक परितोष मिलता है। यह विचार 'अर्थलय' की धारणा के बहुत निकट पहुँच जाता है। इसके अतिरिक्त बिम्ब की जो विशेषताएँ बतायी गयी है, उनमें ताजगी य सद्‌यता (freshness) और सघनता (intensity)तथा उसका उत्प्रेरक (evocative) होना प्रमुख है। (वही, वृ0 74)

काव्य-बिम्ब के विविध प्रकारों की चर्चा की गयी है, जिसमें से केन्द्रीय बिम्ब (key image)और उसके सहायक होकर आने वाले बिम्बों का उल्लेख प्रारम्भ में ही हो चुका है। क्रियाशील (functional) और आलांकरिक(decorative) बिम्बों के बीच के अन्त को आत्यन्तिक न मानकर कवि के उद्देश्य या कर्म से अनुस्यूत होने को ही मुख्यता प्रदान की गयी है। ल्यूइस का मत कि कविता के आन्तरिक संगठन और उद्देश्य से यदि बिम्ब किसी भी रूप से सम्बद्ध रहता है, तो उसे क्रियाशील ही कहना होगा, चाहे वह ऊपर से उथला और कितना ही सतही लगे। इस प्रश्न को उन्होंने अन्ततः संगति के गुण से जोड़ दिया है। (वही, पृ0 40) मुझे लगता है कि क्रियाशीलता की माप स्वतन्त्र आधार पर होनी चाहिए, और संगति का प्रश्न उससे भिन्न हैं तथा बाद में प्रस्तुत होता है। क्रिया स्वसापेक्ष्य है, संगति परसापेक्ष्य। लेखक यहाँ मूल समस्या को बचाकर निकल गया, पर सजीव बिम्ब (the living image) वाले अध्याय में एक स्थान पर यह समस्या उसके सामने आ ही गयी। (वही, पृ0 55) बिम्ब के रोमांटिक और क्लासिकल रूपों में भी विभेद किया गया है। रोमांटिक बिम्ब इतना वायवी हो जाता है कि उसे उसकी उद्भावना के मूल से पुनः जोड़ पाना सम्भव नहीं होता। उसके द्‌वारा कवि अपनी ही अनुभूति के अर्थ को उद्‌घाटित करके स्वयं कृतार्थ होता है। इसके विपरीत क्लासिकल बिम्ब का अर्थ सुस्पष्ट, किसी विचार से सूत्रबद्ध तथा उद्देश्यपूर्ण होता है। उसकी क्रियाशीलता का वृत्त भी सीमित होता है।

बिम्ब के प्रकारों से खंडित बिम्ब (broken image) की स्थिति पर पूरे एक अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया गया है। क्लासिकल और रोमांटिक दृष्टिकोंण को, पूर्वोक्त बिम्ब-भेद से अलग हटाकर, मिश्रित और शुद्ध कविता के विभेद तक ले आया गया है और बिम्ब के महत्व को दूसरे रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि वास्तविक काव्य का केन्द्र-बिन्दु अब वही बन गया है। बिम्ब के वृत्त में ही अब शुद्ध कविता ने आशय ग्रहण किया है। युग के परिर्वतन के साथ बिम्ब के स्वरूप् और प्रयोग में भी परिर्वतन घटित हुआ है। प्रतीकवादियों के वैयक्तिक बिम्बों और तर्कहीनता की दिशा में उनकी प्रवृत्ति से कुछ आधुनिक कवियों की विसंगतियों का पक्ष ग्रहण करने की प्रेरणा मिली। ल्यूइस ने इसी संदर्भ को प्रस्तुत करते हुए खंडित बिम्बों की समस्या उठायी है। कविता में बिम्ब तभी खंडित

दिखायी देगा, जब उसमें काव्यात्मक तर्क-संगति का केन्द्रीय सूत्र नहीं होगा। ऐसी दशा में लेखक के मत से उसकी प्रभविष्णुता घट जायेगी। खंडित बिम्ब इस प्रकार शुद्ध कविता का साधक न होकर बाधक तत्व ही सिद्ध होता है। यह सम्भव है कि बिम्ब अपकेन्द्री (centrifugal) हों; परन्तु ऐसी स्थित में भी एक कविता समग्र कविता हो सकती है, लेकिन बिम्बों में कविता की समग्रता खो जाती है। (वही पृ0 125) ल्यूइस ने न खंडित-बिम्बों के प्रयोग से किसी नये काव्यात्मक प्रभाव की स्थित सम्भव मानी है और न अपने-समय में उस प्रकार के प्रयोगों का समर्थन ही किया है। यद्यपि उन्होंने उन लोगों से, जिन्होंने बिम्बवाद को लेकर नयी शास्त्रीयता (Imagism as a new classicism)का पक्ष लिया, अपने को पृथक् रखने की चेष्टा की है। तथापि उनकी खंडित बिम्बविषयक धारणा प्रायः वैसी ही शास्त्रीय मनोवृत्त से प्रेरित दिखायी देती है। (वही पृ0 112)

एक सजग कवि के नाते उन्होंने उस कठिनाई को अवश्य लक्षित किया, जो काव्यवस्तु का आकस्मिक क्षेत्र-विस्तार हो जाने के कारण आधुनिक कवि को अनुभव करनी पड़ रही है, क्योंकि ऐसे अगणित नये बिम्ब सुलभ हो गये हैं, जिन्हें प्रचलित 'अर्द्ध गीति अर्थ कल्पनामय' माध्यम में सहेज पाना दुष्कर हो रहा है। उसकी विवशता की ल्यूइस ने सही और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है।

(Strain is aggravated by the modern poets distrust of rhetoric, his dislike of an artificially uniformarly poetic diction, and by the compulsion he feels to concentrate more and more of the poem's meaning within its images, less and less upon poetic thread or argument linking them.)

आधुनिक बिम्ब-विधान में कवि की यह विवशता दो रूपों में प्रतिफलित होती है। एक है, बिम्बों का सघन होते जाना और दूसरा, उनका जगह-जगह संपुंजित हो उठना। वर्तमान कविता में दोनों रूप बराबर मिलते हैं। बहुत से नये बिम्ब स्वतः इन रूपों में उद्भूत होते हैं। यह भिन्न बात है कि अधिकतर बहुत काल तक जीवित नहीं रह पाते। कविता के क्षेत्र में आने वाली ऐसी नयी-नयी कठिनाइयों के कारण ही ल्यूइस के मन में कुछ आधुनिक बिम्बों के विषय में बढ़ती मृत्यु-दर (a high rate of mortality) की भविष्यवाणी करने की बात आयी। खैरियत हुई कि खुलकर वैसा कर नहीं डाला, वरना मैं लेख लिखना छोड़कर मर्सिया पढ़ने लगता। मरें चाहे, जियें, बिम्ब काव्याभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है, यही उनका गौरव है और यही लेखक के सम्पूर्ण विवेचन का सार भी।

जिस रूप में ल्यूइस ने काव्य में निहित दृश्य-तत्व पर आधारित बिम्ब की धारणा को प्रस्तुत किया है, उससे वस्तु-जगत् और भाव-जगत् के पारस्परिक संपर्क एवं संघात से उत्पन्न प्रायः सभी प्रकार की संश्लिष्ट और मिश्रित स्थितियों की व्याख्या की जा सकती है तथा कल्पना-व्यापार के रचनात्मक स्वरूप को भी बहुत दूर तक समझा जा सकता है, परन्तु भाव और भाव के विविध रूपों के बीच घटित होने वाली रासायनिक प्रक्रिया की जैसी व्याख्या भारतीय रस-सिद्धान्त द्वारा मौलिक

और गहन रूप में की गयी, वैसी इसके द्वारा सम्भव नहीं है। ऐसी बहुत सी आत्मनिवेदनपरक भावात्मक और रसात्मक कविताएँ हैं जिसकी सही और पूरी समझ केवल उसके बिम्ब-विधान के विश्लेषण से उत्पन्न नहीं हो सकती और इस दृष्टि से कहना होगा कि बिम्ब-सिद्धान्त भी काव्य के एक विशेष एवं महत्वपूर्ण पक्ष की निजी सीमा में घिर जाता है। वादा का दुराग्रह न सही, पर उसकी हलकी छाया लयूइस के वक्तव्यों में भी कहीं-कहीं देखी जा सकती है। तात्विक दृष्टि से भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त से उसका कोई विरोध नहीं है। जब ल्यूइस बिम्ब से निकलने वाले अनेक सूक्ष्मतर अर्थों को ring after ring of meaning के रूप में वर्णित करते हैं, तो लगता है कि वे ध्वनिकार के 'घंटानुरणन' से विनिःसृत्त ध्वनि-तरंगों के स्थान पर जल की तरंगों के सादृश्य से प्रस्तुत कर रहे हैं। बिम्ब के भिन्न आधार पर प्रतिष्ठित होकर भी मूल बात वही है। अन्तर है तो केवल इसी बात में कि ध्वनि-मत दृश्य-तत्व की अलंकारों आदि से पृथक् विवेचना नहीं करता और न उसे उतना महत्वपूर्ण मानता, जितना कि वह वास्तव में हैं, विशेषतः वर्तमान युग के काव्य-संदर्भ में।

❖

नयी कविता: किसिम किसिम की कविता

(समकालीन कविता सम्बन्धी विचारधारा का एक परिदृश्यात्मक आवलोकन)

नयी कविता का यह आठवाँ अंक लगभग दो-ढाई वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद निकल रहा है। अन्तराल अधिक प्रतीक्षा कम। अन्तराल औरों के लिए, प्रतीक्षा उन कवियों या लेखकों के लिए जिनकी रचनाएँ इतने समय तक स्वीकृत अथवा विचाराधीन होकर संचित रहीं। तीव्र से तीव्रतर होती हुई गति के इस असाधारण रूप से प्रवैगिक युग में इतनी अगति ! इतनी आवेगहीनता ! दोष का भागी मैं स्वयं तो हूँ ही, साथ ही वह बिखराव भी इसका कम उत्तरदायी नहीं है जो हिन्दी कविता के क्षेत्र में आज नये नामकरण की आपाधापी से उत्पन्न अनिश्चय एवं अलगाव की प्रवृत्ति के कारण चारों ओर व्याप्त हो रहा है।

इस अप्रत्याशित तथा अनभीष्ट विलम्ब से जिन्हें जो भी क्षोभ या असुविधा हुई हो हम उसके लिए उनसे क्षमा-प्रार्थी है। मैं उलझ गया था अपने ग्रंथ 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' के प्रकाशन की समस्याओं में और मेरे सहयोगी साही जी सक्रिय राजनीति में उतर कर चुनाव के चक्कर में फँस गये थे। अब हम लोग उन झंझटों से उबर कर, 'काफी हाउस' की मेज पर या घर मे शतरंज की बाजी सामने रखकर अपने-अपने अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन करने लायक स्थिति में पहुँच गये हैं। आगामी कविता के नामकरण की चालों से अधिक रूचि हमें शतरंज की चालों में रही है। मोती महल

का निचला कक्ष और बैंक रोड के आँगन के पार द्वार वाले 'कमरे' का भूगोल एवं इतिहास इसका साक्षी रहेगा। हम दोनों ही साहित्य और राजनीति में विवेक करके चलना पसन्द करते हैं। एक साहित्य को साहित्य की जगह और दूसरा राजनीति को राजनीति की जगह झेलता-झेलता रहा है। राजनैतिक साहित्य अथवा साहित्यिक राजनीति में, हम दोनों में से एक को भी कोई लगाव नहीं है। यदि होता तो यह अंक कभी का निकल गया होता। नयी कविता जिस दायित्व-बोध को लेकर प्रकाशित की गयी थी आज भी उसी का अनुभव होने पर उसके प्रकाशन की प्रेरणा मन में जागती है, अन्यथा नये से नये ढंग की कविताएँ तो अब प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी हैं और कविता की ही नित्य नयी छोटी-बड़ी दुपितया चौपतिया पत्रिकाएँ निकलती ही रहती हैं। नयी कविता का पहला अंक जब सन् 1954 में निकला तो उस समय केवल कविता की विधा को प्रश्रय देने वाली और वह भी नये मूल्यों की चेतना को लेकर चलने वाली, कदाचित् एक भी पत्रिका नहीं निकल रही थी। विहार से कविता लगभग समानान्तर ही प्रकाशित हुई। पर अब कविता पत्रिकाओं की बाढ़ आ चुकी है और आज उनके नियत अनियत काल की सीमा वार्षिक से लेकर दैनिक तक जाती है। बँगला में तो डॉ0 सुशीलराय 'कविता घंटिकी' निकाल चुके हैं जो प्रतिदिन लगातार दस घंटे निकलती रही। नयी कविता इसमें कुछ इसलिए भी काहिल हो गयी। नये नामों की फिराक में रहने वाले चाहे तो मेरी इस स्वीकारोक्ति से लाभ उठा कर 'काहिल-कविता' की नयी ईजाद कर सकते हैं। आखिर नये नाम के साथ नयी चीज भी हो, ऐसी शर्त तो अनिवार्य मानी नहीं जा रही है, हर नाम सार्थक ही हो ऐसा भी आग्रह दिखायी नहीं देता और न यही जरूरी समझा जा रहा है कि एक चीज का एक ही नाम हो। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निमिन्द्र मातारिश्वानमाहु।'

अनेकत्व जब बहुत बढ़ जाता है, जब ख्वामख्वाह, बहुसंख्यक, देवता पूजे जाने लगते हैं तो 'अनेकता में एकता की खोज' वाली वृत्ति अपने आप जाग उठती है।

समसामयिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में कहीं-कहीं ऐसे लक्षण भी दिखायी देने लगे हैं जिससे लगता है कि नामकरण का यह दौर भी अब भीतर से 'चुकने' लगा है। आखिरकार सारी काव्य-चेष्टाएँ एक सामान्य मंच पर आकर कहीं मिलती अवश्य होंगी और वह मंच काव्य का ही होता होगा, 'स', 'न' 'अ' आदि कविताओं का नहीं।

(विष्णु खरे, स0 वयम् प्रवेशांक 1966, पृ0 4)

यहाँ कविता के नये-नये नामों का सूचीबद्ध करने की चेष्टा की जा रही है। यह सूची पर्याप्त रोचक एवं ज्ञानवर्धक लगेगी। मैं क्या, इस बात का कोई भी दावा नहीं कर सकता है कि यह सूची पूरी हो गयी है,

क्योंकि यह असम्भव नहीं है कि इसके छपते-छपाते, लोगों तक पहुँचते-पहुँचाते दो-चार नाम वर्षा-भेकवत् और पैदा हो जायें।

*सनातन सूर्योदयी कविता

*अपरम्परावादी कविता

*सीमान्तक कविता

*युयुत्सावादी कविता

*अस्वीकृत कविता

*अकविता

*सकविता

*अ-अकविता

*अभिनव कविता

*अधुनातन कविता

*नूतन कविता

*नाटकीय कविता

*एण्टी कविता

*निर्दिशायामी कविता

*लिंग्वादलमोतवादी कविता

*एब्सर्ड कविता

*गीत कविता

*नव प्रगतिवादी कविता

*अन्यथावादी कविता

*विद्रोही कविता

*क्षुत्कातर कविता

*कबीर-पंथी कविता

*समाहारात्मक कविता

*उत्कविता

*विकविता

*बोध कविता

*मुहूर्त की कविता

*द्वीपान्तर कविता

*अति कविता

*टटकी कविता

*ताजी कविता

*अगली कविता

*प्रतिबद्ध कविता

*शुद्ध कविता

*स्वस्थ कविता

*नंगी कविता

*साम्प्रतिक कविता *गलत कविता

*बीट कविता *सही कविता

*ठोस कविता (कांक्रीट कविता) *प्राप्त कविता

*कोलाज कविता *सहज कविता

*आँख कविता

ये लगभग चार दर्जन नाम हैं जो पिछले तीन-चार वर्षों में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रह-संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं। कौन नाम कब, कहाँ, कितनी बार, किस अर्थ में आया है और उसका प्रथम प्रयोगकर्ता तथा मूल स्त्रोत क्या है इसकी चिन्ता, नयी कविता पर शोध करने के लिए निरन्तर उत्सुक शोध-छात्र स्वयं कर लेंगे। कवियों और कवि-आलोचकों को उसके लिए व्यर्थ चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। इस सूची के कुछ नाम, इस देश में सम्मानित एवं सुदीर्घ, श्रुति-परम्परा से भी प्राप्त हुए है अतएव मुझे उनको सम्मिलित कर लेने के दोष का भागी ही न बनाया जाये वरन् उन्हें प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखने का श्रेय भी प्रदान किया जाये। कुछ नाम ऐसे भी हैं जो आन्दोलनात्मक नहीं है। अतः जिनके पक्ष में घोषणा-पत्र प्रारम्भिक वक्तव्य या प्रस्ताव-पत्रक प्रकाशित हुए हैं अथवा जिनके पीछे, कुछ अतिशय जागरूक कवियों ने यह सोचकर कि कौन जाने यही नाम आगे चल जाये, पड़ जाने की वृत्ति अपनायी है तथा नामानुकूल कविताएँ लिखकर या सम्पादक के नाम सहमति सूचक पत्र भेज कर अपना समर्थन विज्ञापित करने की ललक दिखायी है, या फिर किन्हीं अन्य कारणों से जिनकी चर्चा बहुत हुई है, उन नामों के विषय में क्रमशः कुछ विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

सनातन सूर्योदयी कविता

'भारती' के सन् 1962 के मार्च-अंक यानी 'होली रंगोत्सव विशेषांक' में अनागता की आँखों वाले श्री वीरेन्द्र कुमार जैन द्वारा 'नयी कविता' 'उच्छृंखल अहंवाद' के विरूद्ध, जोर-शोर की पूरी नाटकीयता के साथ, पहली आवाज उठायी गयी। 'हम सनातन सूर्योदयी नूतन कविता की घोषणा करते हैं' के उद्घोष के साथ 'आगामी कल की ऊर्ध्वोन्मुखी नूतन कविता धारा' का घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया। उसका सिरनामा था—

'पतन-पराजय, कुण्ठा, आत्म-पीड़ना और जीवित आत्म-घात के असूझ अंधकार में आत्महारा दिशाहारा होकर भटक रही आज की अनाथ काव्य-चेतना के सम्मुख हमः अल्प से महत् में

ले जाने वाली अंधकार से प्रकाश में ले जाने वालीः मृत्यु से अमृत में ले जाने वाली और सीमा में असीम की लीला को उतार लाने वालीः आगामी कल की अनिवार्य सनातन सूर्योदयी नूतन कविता-धारा का द्वार मुक्त करते हैं।'

जब द्वार खुलने से पहले ही इतनी भारी-भरकम शब्दावली, महाराज हर्ष को सुसज्जित गजवाहिनी की तरह झूमती निकल पड़ी तो खुलने के बाद उसमें से क्या कुछ निकलेगा यह सोच कर लोग आश्चर्यचकित रह गये। समझदारों ने धैर्य धारण करके घोषणा के सनातन धर्म और घोषणाकार के महत् मर्म तक पहुँचने की चेष्टा को और जानना चाहा कि आखिर वे लोग हैं कौन जिन्होंने ऐसा जघन्य अपराध किया है कि देवलोक में खलबली मच गयी है? 'सनातन भारतीय आत्मा की वह भगवती शक्ति' श्री वीरेन्द्र कुमार जैन को 'प्रतिबोध' देकर किन की ओर उन्मुख कर रही है? घोषणा-पत्र पढ़ते-पढ़ते मेरी नजर रहस्य की उपलब्धि के गौरवमय भय से जिन जगहों ठहर गयी वह यह है—

'समूचे विश्व की अत्याधुनिक कविता, और इसलिए हिन्दी की अधिकांश कही जाती नयी कविता इसी 'ट्रैजिडी' की मृत्युमुखी कोख से जन्मी है।- पृ0 26

'हिन्दी में' 'नदी के द्वीप' उपन्यास और 'परिमल'-प्रचारित नयी कवितावादियों का सारा व्यक्तिवादी दर्शन, इसी आत्म पलायित दायित्वहीन, उच्छृंखल अहंवाद की देन है।'

-पृ0 113

उस समय 'अज्ञेय' और 'परिमल' के बीच की वैचारिक निकटता और मैत्रीभाव लोगों को बहुत अखर रहा था। 'अस्तित्ववाद' का नाम लेकर सारा आक्रोश उसी ओर व्यक्त किया गया है। चिन्तन और विश्लेषण के स्थान पर भाषण और आरोप मार्ग अपनाया गया है बिना इस बात को लक्षित किये कि 'साँईबाबा' और 'भगवती माँ की भाषा अपना कर आध्यात्मिक का पुनद्धार नहीं किया जा सकता। उससे भारी पिछड़ेपन की बू आती है। दूसरों को प्रेरणा देने और मार्ग बताने से पूर्व ऐसे छोटे-छोटे पूर्वग्रहों से मुक्त होना कितना लाजिमी है यह बात जान ली गयी होती तो संभव है, हिन्दी कविता का कुछ उपकार हो जाता। बावजूद इसके कि गंगाप्रसाद विमल जैसे कुछ उभरते तरूण कवियों ने पत्र-समर्थन प्रदान किया, कविता के स्वरूप् परिवर्तन या दिशा-बोध में अन्तर लाने की दृष्टि से ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ जिसे महत्व दिया जा सके।

दो-तीन वर्षों में ही इस अभियान की क्या परिणति हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 'भारती' 1964 के जनवरी अंक में 'नयी कविता में चित्रित मानव' नामक लेख में डा0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने नयी कविता की तृतीय धारा को 'आध्यात्मवादी प्रयोगवाद की धारा'

बताते हुए 'श्री सुमित्रा नन्दन पंत' के साथ वीरेन्द्र कुमार जैन आदि कवि के रूप में 'सनातन सूर्योदशी' कवियों को नत्थी कर दिया। प्रथम धारा के दो भेद करते हुए एक को 'अज्ञेयवादी' और दूसरे को 'प्रयोगवादी' नाम दिया है, इस स्पष्टीकरण के साथ कि 'प्रयागवादी' होने के लिए इलाहाबाद निवासी होना आवश्यक नहीं है। 'आत्मा' के 'वरण' की स्थिति तक पहुँचे हुए अज्ञेय को अध्यात्मवादी धारा में क्यों सम्मिलित नहीं किया गया यह बात अपने में अज्ञेय नहीं और इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। यह भी स्वाभाविक था कि कुछ प्रतिभावन् ओजस्वी तरूण प्रस्ताव के समर्थन से पूर्व संशोधन पेश करते। 'भारती' 1965 के फरवरी अंक में 'नयी कविता और उसके बाद' शीर्षक अपने लेख के अंत में धूमिल ने 'सनातन' और 'सूर्योदयी' दोनों शब्दों को काट-छाँटकर केवल 'नूतन कविता' का पक्ष ग्रहण किया—

'**अतः लोक कल्याण के लिए सामुदायिक स्तर पर नीलकण्ठ बन जिस दिन हमारा कवि सूर्योदय वेला में अंधकार की परतों को चीरता हुआ अग्निबाण-सा उदित होगा, उसी मंगल प्रभात में वर्तमान के अश्रुजल से नयी कविता की कालिमा घुलेगी। इतिहास स्वर्ण पंखों पर उड़ेगा और नयी कविता होगी पुनर्जीवित 'नूतन कविता'।**

यहाँ जो रूपक रचा गया है उसकी विधि और शब्दावली प्रसाद की कहानियों का स्मरण दिलाती है। बनारसी नूतनता की इससे अधिक पहचान और क्या अपेक्षित है। नयी कविता में जो एक दर्जन दोष दिखाये गये हैं वे सब इस नूतनता पर न्योछावर हो जाते हैं। 'नूतन कविता' में फिर किसी ने कटौती नहीं की पर वह अपने आप 'न कविता' सिद्ध हो गयी और सारा सनातन सूर्योदयी आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया तथा उसका घोषणा-पत्र 'घोषिताराम' की तरह उत्खनन की वस्तु बन गया।

अभिनव काव्य

कविता के मामले में प्रयाग-विरोध का दिल्ली-चण्डीगढ़-अध्याय बम्बई-वाराणसी अध्याय से अधिक रोचक है। उसमें सक्रियता और सजगता अधिक मिलती है तथा कविताएँ भी इतनी प्राप्त हो जाती हैं कि घोषित स्थापनाओं की कुछ परख की जा सके।

1963 में जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में, दो सप्तक यानी चैदह कवियों की, कवि-वक्तव्य रहित किन्तु परिचय सहित, बहुसंख्यक कविताओं का एक अच्छा-खासा संग्रह 'प्रारम्भ' नाम से प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादकीय 'नये काव्य की भूमिका' के अन्तर्गत तथाकथित प्रयोगवादियों को 'पुरानी मान्यताओं' तथा 'क्षण की अनुभूति', 'लघुमानव' तथा 'अहंमन्यता' के फार्मूलाग्रस्त मस्तिष्कों के रूप में स्मरण करते हुए 'सामूहिक आक्रोश' के 'अभिनव काव्य' का प्रवर्तन किया गया।

नयी कविता से अपने को अलग करने का उतना आग्रह इस संग्रह में नहीं दिखायी देता जितना सूर्योदयी कविता में था। इसके सम्पादक ने स्पष्टतया कहा है कि—

'नई कविता के उत्तरोत्तर विकास की स्वस्थ परम्परा इस संकलन के विभिन्न खंडों में दिखायी देगी।'

'ये कवि उस 'अभिनव काव्य' के नियंता कहे जा सकते हैं जो सहज रूप से विकसित हो रहा है जिसमें अनेक सम्भावनाएँ दिखायी देती है। यह संकलन उस कमी को पूरा करता है जो कि 'नई कविता' की उपलब्धियों से अवगत होने के लिए आवश्यक प्रतीत हो रही थीं। इन कविताओं को हिन्दी-काव्य की अत्याधुनिक उपलब्धियों के रूप में मान्यता दी जा सकती है।'

इस संकलन में कैलाश वाजपेयी, श्याम परमार और राजकमल चौधरी भी शामिल हैं जिनके व्यक्तित्व आगे और उभर कर सामने आये हैं। भूमिका में और जो बातें कही गयी हैं उनमें 'एंग्री यंगमैनों' या 'युवा आक्रोशी कवियों' से साहचर्य भाव के अतिरिक्त और कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है। हाँ, जब आक्रोशी होने के साथ-साथ अभिनव-काव्य-स्त्रष्टा को 'सहजता की ओर उन्मुख' भी बताया जाता है, जैसा कि सम्पादक ने किया है, तो यही लगता है कि बातें पकी हुई मनःस्थिति में सँजोई नहीं गयी है, कच्चेपन में ही जोड़-गाँठ की गयी है।

इन्द्रनाथ मदान द्वारा प्रस्तावित तथा रमेश कुंतलमेघ एवं गंगाप्रसाद विमल द्वारा सम्पादित 'अभिव्यक्ति-1' में, जो चंडीगढ़ से 1964 में प्रकाशित हुई 'अभिनव काव्य' की हल्की अनुगूँज सुनायी दी। जगदीश चतुर्वेदी ने स्वयं कदाचित् 'अभिनव काव्य' शब्द को अपर्याप्त और अप्रेरक समझते हुए, उसके पहले 'एंटी कविता' का सानुवाद लेबल लगा देना आवश्यक समझा और शीर्षक का रूप हुआ 'अ' (एंटी) कविता और अभिनव काव्य' किन्तु वर्गीय नाम में 'अ-कविता' का ही बोलबाला रहा। उद्देश्य वही-नई कविता के 'मैनरिज्म' और पिष्टपेषण से मुक्ति पाना। 'अत्याधुनिक काव्य-बोध' को व्यक्तिगत स्वचेतनशीलता का पर्याय' बताते हुए स्वर्गीय कवियों को पूर्ववर्ती कवियों से नितान्त भिन्न कहा गया। उन दिनों सचेतन कहानी का जोर था अतः संभवतः वहीं से 'सचेतन' शब्द लेकर कृतित्व की सचेतनता को ही अत्याधुनिक दृष्टि से संपृक्त करने वाली के रूप में प्रस्तुत करते हुए 'अभिनव काव्य की संज्ञा' को क्रिया से जोड़ा गया है। एक ओर 'पूरी तल्लीनता के साथ भोगे क्षणों का एक तटस्थ अन्वेषक की तरह अभिव्यक्ति देने' की बात कही गयी है तो दूसरी ओर उसके ठीक विपरीत 'आवेग की परिपूर्णता को अभिनव काव्य का नियन्ता' कहा गया है और कवियों को 'एंटी काव्य' के 'सार्थकवाहकों' के रूप में परिगणित करने की लालसा व्यक्त की गयी है। पूर्वोक्त शीर्षक का मध्यस्थ 'और' 'अथवा' बनने के लिए छटपटाता हुआ दिखायी देता है। 'आक्रोशी पीढ़ी'

और 'प्रारंभ' का नाम भी ले गया है, परन्तु जब साथ देने वाले कवियों की नामावली पर दृष्टि जाती है तो अजब सी स्थिति सामने आती है। इस वर्ग के संकलित कवियों में 'प्रारंभ' के चौदहों कवियों में से एक भी सम्मिलित नहीं है। उक्त वक्तव्य के लेखक और उसके तीन-चार अन्य साथियों को नये वर्ग 'बीटनिक कविता' में समाहित किया गया है जिसके प्रवक्ता हैं प्रभाकर माचवे। अपने और अमरीकी बीट कवियों के बारे में बहुत कुछ कह चुकने के बाद उन्होंने यह दुख भी प्रकट कर दिया है कि 'अभी हमारे बीटनिकों वाला साहस' है ही कहाँ, अभी सिर्फ बीटनिक शब्द को दुहराते हैं, उसका सृजनात्मक लावाभरी आग कहाँ है।' आश्चर्य है कि इस हीन भावना के बाद भी 'प्रारंभ' के कवियों ने अकविता और अभिनव काव्य दोनों से अपने को व्यवहारतः पृथक् करके 'बीट' नाम अपना कर कवियों के इसी वर्ग में सम्मिलित होने दिया और इसी में शायद उन्हें गौरव का आभास भी हुआ। माचवे जी ने तो उनके सारे सचेतन कृतित्व को नकारते हुए यह भी लेख दिया है कि 'एक पीढ़ी ऐसी आयेगी जो सहज को प्रतिष्ठित करने के सत्य को पहचानेगी।' यानि 'आक्रोशी पीढ़ी' उससे अपरिचित है।

विचारे वीरेन्द्र कुमार जैन को 'एक कवि' के रूप में अकेला छोड़कर सनातन सूर्योदयी कविता के भूतपूर्व समर्थक गंगाप्रसाद विमल स्वसंपादित संकलन में स्वयं ही 'अकविता' वर्ग के प्रथम कवि के रूप में मुद्रित हैं। अपने सम्पादकीय 'समकालीन हिन्दी कविता की गतिविधियाँ' में उन्होंने इस विशेषाधिकार का शायद कुछ मूल्य चुकाते हुए 'अभिनव काव्य' की भी थोड़ी-बहुत वकालत कर दी है। परन्तु उसके नयेपन को नयी कविता की उत्तरावर्ती प्रवृत्तियों में परिगणित करते हुए उनके द्वारा जो उसे सूर्योदयी के साथ रख दिया गया है वह अवश्य ही सचेतन प्रारम्भिकों को रूचिकर न लगा होगा।

'कदाचित् बोध और संचेतना के आधार पर उन सौन्दर्य मूल्यों को व्याख्या देने का काम नयी कविता की अन्य उत्तरवर्ती प्रवृत्तियाँ करेंगी।.......ऐसी दशा में नये से नयेपन की एक छटपटाहट अपरम्परावादी कवियों सूर्योदयी (आत्मिक आधारवादी) कवियों, अभिनव काव्य-सर्जकों तथा काव्याधार पर 'लघु और भव्य' को ऐतिहासिक दृष्टिक्रम के अनुसार अस्वीकृति देने वाले 'मामूली मैं' और दुहरी 'सफ़रिंग' भोगने वाले कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।

-अभिव्यक्ति -1, पृ0 13

यदि आक्रोशी पीढ़ी ही युवा पीढ़ी या 'अण्डर थर्टी पीढ़ी' है तो पूछा जा सकता है कि तीस पार करते ही उसके आक्रोश का क्या होगा? फिर 'तीसरी देहरी' के युवा कवि नाम से एक पृथक् वर्ग बनाकर, अकविता से घोषित रीति से सम्बद्ध गंगाप्रसाद विमल को पुनः उसमें रखने का क्या औचित्य कहा जा सकता है। यदि सम्पादक होना इसका तर्क है तो फिर द्वीपान्तर कविता आदि के अन्य वर्गों

में भी उन्हें होना ही चाहिए था। यह वर्गीकरण सचमुच अद्भुत है जिसमें पंजाबीपन, महिलापन, उम्र और जाने क्या-क्या आधार मानकर कवियों का विभाजन किया गया है और कुछ को दो-दो तीन-तीन जगह भूका गया है। जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार आदि अभिनव काव्य के प्रमुख कवि बीटनिक वर्ग में पहुँचा दिये गये हैं।

बीट कविता

अभिव्यक्ति के पूर्वोक्त अंक में प्रकाशित वक्तव्य के आरंभ में प्रभाकर माचवे ने स्वयं कहा है कि **'हिन्दी में कई शब्द पहली बार प्रयुक्त करने का श्रेय मुझे है.......शायद पहली बार 'बीटनिकों के बीच' (धर्मयुग 60) मैंने लिखा। बाद में 'कृति' में आज की अमरीकी कविता लिखते हुए गिन्सबर्ग का जिक्र किया।' .....अमरीका में सैन फ्रान्सिको के बीच एरिया में और न्यूयार्क में मेरा सम्पर्क 'बीट' कवियों, चित्रकारों, आलोचकों, अभिनेताओं, शिल्पकारों से हुआ।'.....वहाँ अति लक्ष्मी, अति-विज्ञान, अति-विलास, अति-यौन-स्वातंत्र्य से एक तरह की ऊब है, क्लान्ति है, जैसे चूहेदानी में विवश चूहे हों, वैसे मनुष्य-रेट-रेस। उसके विरूद्ध उनका आक्रोश है।'**

'बिटनिक्स हिन्दी के संदर्भ में' - अभिव्यक्ति -1, पृष्ठ 136।

माचवे जी वहाँ रहकर भी जितना प्रभाव ग्रहण न कर सके उससे कहीं अधिक प्रभाव बनारस में 'गिन्सबर्ग' (राजकमल चौधरी का) उच्चारण सही माना जाये तो जीन्सबर्ग) के निवास-काल में शमशेर बहादुर सिंह घोषित प्रगतिशील कवियों ने ग्रहण ही नहीं कर लिया वरन् ओढ़ लिया। कहाँ रूसी प्रगतिशीलता और कहाँ अमरीकी बीटनिक। पर साहित्य में आकस्मिक और विचित्र गठबंधन हुआ ही करते हैं' अतः आश्चर्य क्या ? इस प्रभाव से कम से कम इतना तो हुआ ही कि जब 'लहर' के भारतीय काव्यांक' (1964) में प्रकाशित 'आधुनिक बंगला कविता: हंग्री जेनेरेशन:भूखी पीढ़ी' के लेखक राजकमल चौधरी को बँगला कवियों पर अमरीकी बीट 'पैगम्बरों' का प्रभाव बताने के क्रम में हिन्दी की याद आयी तो पहला नाम शमशेर जी का ही सामने आया। बँगला के तरूण कवि काफी समझदार हैं, क्योंकि चौधरी के अनुसार वे 'ज्यादा बदनाम भी होना नहीं चाहते कि माँ-बाप घर से निकाल दें, या दूसरे लोग अपने घरों में घुसने नहीं दें।' बँगला कविता के क्षेत्र में 'एलेन जीन्सबर्ग पैगम्बर बन गया, और बँगला की नयी कविता को नया बाना नया रंग-रूप, नया वजीफा और नया ओहदा मिल गया।' बुद्धदेव वसु और विष्णु दे तक जो बँगला कविता 'रामैण्टिक युग की कविता थी, उसे 'काफी हाउस में बैठने वाले चंद कमजोर लड़कों और बीमार लड़कियों ने, अपने बीच से 'फुट पाथ' हटाकर 'रेगिस्तान में ला पटका है।' राजकमल का कहना है कि बँगला कविता को इसकी जरूरत थी। इससे कविता को नये शब्द और नये अर्थ ही नहीं मिल रहे हैं, नया संस्कार भी मिल रहा है-नये

आदमी का संस्कार। 'मकसद' को गैर जरूरी मानते हुए वे कविता करने के लिए भूखे रहना, इच्छा कर के भूखे रहना पर्याप्त समझते हैं। बँगला उनकी मातृ भाषा जैसी है जितना प्रभाव माचवे जी अमरीका जाकर नहीं ला पाये उससे कई गुना सक्रिय सृजनपरक प्रभाव राजकमल चौधरी के माध्यम से हिन्दी में आया। कविता ही नहीं कहानी-उपन्यास आदि के क्षेत्र में भी। यदि यह प्रभाव कहीं थोड़ा बहुत सार्थक हो सका है तो उन्हीं के कृतित्व में। 'कंकावती' और 'मुक्तिप्रसंग में बावजूद बहुत सी खामियों के उसे पहचानना कठिन नहीं है। क्योंकि उनकी अनुभूति की ईमानदारी पर संदेह नहीं किया जा सकता। अभिव्यक्ति के तौर-तरीके के बारे में मतभेद हो सकता है और है और है भी, जैसा 30 अप्रैल '67 के 'दिनमान' में प्रकाशित 'मुक्तिप्रसंग' की समीक्षा टिप्पणी से प्रकट है। बीटनिकों का प्रभाव एक सीमा पर पहुँच कर ठहर चुका है और अब बहुत कुछ उतार पर है।

'लिंग्वादलमोतवादी', शिवचन्द्र शर्मा ने 'दृष्टिकोण' में 'एलेन गिन्सवर्ग से एक इन्टरव्यू' और 'प्रचंड वैद्युतिक छुतार कांड' के अनुवाद छापे परन्तु उससे कोई खास उथल-पुथल हिन्दी में हुई हो ऐसा नहीं लगता। जिस देश के साहित्य में सेक्स चित्रण वर्जित रहा हो वहाँ यौन शब्दावली के सीधी-टेढ़े प्रयोग और रति-दृश्यों की बाढ़ लाकर दकियानूसी मनोवृत्ति को चौंकाने या सुधारने की कोई सार्थकता मानी जा सकती है। किन्तु 'कामसूत्र' कुट्टीनीमतम्, कुमारसंभव, और खुजराहो' के देश में यह सब प्रयास बचकाना, असंतुलित, रूग्णतासूचक, अनुकरणमूलक और अनावश्यक लगता है। 'गोंडाग्नि' की धारणा में 'हाऊल' की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। कुछ किताबों पर वहाँ मुकदमा चला तो यहाँ भी कुछ कवि मुकदमें लायक किताबें लिखने को साहित्य का चरम पुरूषार्थ मानने लगे। कारण भी वही, तौर-तरीका भी वही, केवल देश और उसकी समस्याएँ ही वही नहीं हो पा रही हैं। वहाँ के साहित्यकार अपराध कहे जाने वाले और वर्जित जीवन के फिल्म बनाने में बहुत दिलचस्पी लेने लगे हैं, यहाँ साधनों के अभाव में ही शायद वैसा नहीं हो पा रहा है। बीटनिक कविता में सामाजिक तत्व नहीं है ऐसा कहना अन्य होगा। परन्तु साधन और साध्य के बीच अन्तर्विरोध और गहरी खाई होने के कारण इस देश के सामान्य मानस से उसका मेल नहीं हो पाता। बाम-मार्गियों का पूर्व अनुभव भी आड़े आता ही है। श्रेष्ठ और महान् दोनों प्रकार के साहित्य के लिए यौन विकृतियों पर विशेष बल और उनके उद्घाटन की अनिवार्यता कभी नहीं रही है, अपने स्वाभाविक रूप में वे सदा स्थान पाती रही है। वस्तुतः इस समय यौन-चित्रण को साहित्य की संशोधनात्मक वृत्ति और समाजिक विद्रोह के साधन के रूप में प्रचारित किया जा रहा है, इसीलिये वह प्रेरणा का विषय न बनकर बहस का विषय बन गया है।

कविता को अमरीकी आदर्श पर 'ओपेन सीक्रेसी' यानि खुली गोपनीयता मानने वाले सुविमल बसाक जिस 'बोधाक्रान्त उन्माद' को आवश्यक बताते हैं वह मारिज़ुआना, पेयोट, गाँजा-चरस या मन

में छिपी 'हेटरोसेक्सुअलिटी' खोज निकालने वाली नशीली दवाओं से जुड़ जाने पर अपनी सारी 'सीक्रेसी' खोकर 'ओपेन' ही 'ओपेन' हो जाता है और कविता, जिसे मलयराज चौधरी कागज के ऊपर कटी हुई जीभ रख देना मानते हैं, अधिकतर रूग्ण मनःस्थिति अथवा छिछले स्तर की नारेबाजी से सम्बद्ध दिखायी देने लगती है, भले ही उसमें 'नवीन स्वस्थ मूल्यों के स्थापना की भूख' ही क्यों न छिपी हो। हर प्रतिष्ठित वस्तु को उखाड़ने के लिए कृत संकल्प बसाक का दृष्टिकोण 'कलकत्ता और कलकत्ता' शीर्षक लेख में काफी स्पष्ट होकर सामने आया है। (नई धारा, अपील, 1967)। उसके भीतर जो गंभीरता निहित भी रहती है वह गलत और असंतुलित चीजों से अतिशय सम्पृक्त होकर प्रायः प्रदर्शन की वस्तु बन जाती है। कवि की स्वमुख में 'पेच्छाव' कराने की इच्छा, ईश्वर का 'पोंद' चूमने की कामना, रज से मुँह धोने या कुल्ला करने की भावना 'शुभा की योनि प्रसारित करने का साग्रह आदेश तथा सड़क पर अपने-अपने शिश्न पकड़कर भाइयों का दौड़ना यह सब स्वाँग बहुत दूर नहीं ले जाता और हिन्दी में नकल की नकल तो और भी गलीज लगती है। बीट कविता का 'ग्लेमर और 'क्रेज' इधर उसी के लिए संकट बनने लगा है। धर्मवीर भारती ने 'धर्मयुग' में बीटनिक आन्दोलन की चर्चा को कुछ बढ़ावा देने के बाद मार्च '67 की 'सारिका' में पूरी नाटकीयता के साथ संस्मरण देने की निजी शैली में उसकी अच्छी खासी शव-परीक्षा की है। तलाश ईश्वर की बजरिए अफीम के भीतरी बिडम्बनापूर्ण असांस्कृतिक पक्ष का 'पर्दा फाश' ही नहीं 'भंडाफोड़' भी करते हुए उन्होंने अंत में जो मर्म की बात लिखी है वह द्रष्टव्य है भले ही उससे सब पूरी तरह सहमत न हों-

'कैसी व्यंग्यात्मक परिणित है ! वे अपना विद्रोह शुरू करते हैं एक ऐसी दुनिया के खिलाफ जहाँ बुद्धि और विवेक झूठा पड़ गया है, जहाँ झूठे मुखौटे और पाखंडी मूल्य हैं और अन्त आश्रय पाते हैं एक ऐसी दुनिया में जो अफीम या मारिजुआना या एल0 एस0 डी0 द्वारा उनके लिए कल्पना में निर्मित कर दी गयी है। ...आत्मवंचना और पलायन का यह नया ढंग उन्हें भी बहुत आकर्षित करता है जिनमें न प्रतिभा है न सच्ची सृजनात्मकता, न अदम्य विद्रोह, न पराजय की पीड़ा ...... झूठे मुखौटे से लड़ाई की शपथ से शुरू होने वाला यह सशक्त आन्दोलन खुद एक मुखौटे में कैसे परिणत हो गया।

गिन्सवर्ग ने बताया ...... कीर्तन करने के बाद किसी मादक द्रव्य के सेवन की जरूरत नहीं होती। फिर हरे कृष्ण और राम के अर्थ लोगों को बताये। ..... तो आखिरकार विद्रोह के अग्रदूत गिन्सवर्ग को ईश्वर मिला, अफीम की धुंध में नहीं उस धुंध को छोड़कर। लेकिन हाय रे भाग्य! इतने नवीनतम विद्रोह के आन्दोलन की किस्मत में इतना पुराना, इतना साधारण, इतना दकियानूस ईश्वर बदा था। हरे राम ! हरे राम !

- सारिका; मार्च अंक, 1967, पृ0 91-92

इस लेख में भारती ने अफीम के तस्कर व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और निहित राजनैतिक स्वार्थों की कुत्सित पूर्ति की जो पृष्ठभूमि बीटनिक आन्दोलन के पीछे प्रदर्शित की है वह एकदम अवास्तविक नहीं कही जा सकती। नेपाल में बीटनिकों की अचानक बढ़ती हुई आमदरफ्त वहाँ की सरकार के लिए भी सरदर्द बन रही है। सुना है आस्ट्रेलिया के 'हिप्पी' समुदाय ने एक नये मादक पदार्थ के सेवन से ईश्वर के साक्षात्कार का दावा किया है। न अफीम सही वही सही।' ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे-धीरे ! यों भारतवर्ष में कवियों के लिए गाँजा और चरस की दम लगाने की अपेक्षा कीर्तिनिहा बन जाना ज्यादा सुविधाजनक होगा। कविता और कीर्तन यहाँ बहुत अरसे तक एक में घुलते-मिलते रहे हैं। भक्तिपरक पदों का संग्रह कीर्तन-संग्रह कहलाता ही था। गिन्सवर्ग के समर्थन के बाद यदि बीटनिक प्रभाव के कविता-संग्रह कीर्तन-संग्रह कहलाने लगे तो क्या आश्चर्य ! लेकिन माचवे जी और शमशेर जी से पूछे बिना ऐसा नहीं होना चाहिए नहीं तो हिन्दी में बीटनिक शब्द के प्रथम प्रयोगकर्ता और उसके प्रगतिशील स्वागतकर्ता का अपमान हो जायेगा।

'सारिका' के मई अंक में भारती ने पुनः कुछ और मसाला देकर गिन्सवर्ग की 'देह राजनीति' और 'तुरन्ता निर्वाण' की असलियत सामने रखी है और उनके विद्रोह की दिशाहीनता का उद्घाटन किया है।

इससे बहुत पहले ही, बीटनिको की नैया डूबती देखकर उन प्रारंम्भिकों द्वारा जिन्होंने माचवे जी के अनुसार 'बीटनिक काव्य-शैली का अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण किया,' अपने को 'वीट जेनरेशन' से अलग घोषित किया जाने लगा। श्याम परमार ने 'ज्ञानोदय' के 'महानगर विशेषांक' में प्रकाशित अपने लेख-'बीट, बीटल, नाराज और भूखे-प्यासे' नामक लेख में लिखा कि **'हिन्दी में अकविता को अकसर इनके साथ जोड़ने की एक भोंड़ी कोशिश की जाती, मगर अकविता जैसी कोई स्वतन्त्र चीज पश्चिम में नहीं हुई।.... हिन्दी में बीटनिक हवा रोमैटिंक अन्दाज से आयी जैसे वह और देश में वही.... हवा के साथ घूमने वाले 'विंडाकाक' हिन्दी में भी है। उन्हें सिर्फ धक्का चाहिए।'**

-पृ0 211

इतनी जल्दी 'अभिव्यक्ति-' में अपने प्रवक्ता माचवे जी का सम्मान परमार जी द्वारा 'विंडाकाक' शब्द से इस तरह किया जायेगा, इसकी आशा नहीं थी 'अभिव्यक्ति' के 'बीटनिक वर्ग' में समाविष्ट दूसरे कवि जगदीश चतुर्वेदी ने भी अपना स्टैंड क्लीयर करते हुए काफी जोर-शोर के साथ अपने 'आक्रोश से सर्वथा अलग घोषित कर डाला-

'आक्रोश' शब्द के साथ एक स्पष्टीकरण जरूरी लग रहा है, जिसे 'अकविता' का प्रत्येक कवि महसूस कर रहा है। उसे भूखी पीढ़ी, बीटनिक या एंग्री यंगमैन के रोमानी आक्रोश से तनिक भी लगाव नहीं है। नंगे बदन गाँजा पीने लैम्पपोस्ट के सामने सड़क पर कुत्ते की तरह लेट जाने या युवा अधेड़ कवियों के समलैंगिक व्यवहारों के प्रदर्शन के प्रति उसे कोई अनुरक्ति नहीं है। उसे एलेन जिन्सवर्ग, फर्लिन्गेटी या कोर्सो मात्र वक्तव्यवादी; मलयराय चैधरी या सुविमल बसाक व्यर्थ आक्रोश से पीड़ित समाज सुधारक और तेलुगु की दिगम्बर पीढ़ी के कवि मात्र फैशनपरस्त चीख-पुकार में रत दिखाई पड़ते हैं। उसे कोढ़ दिखाकर सहानुभूति पाने से नफरत है। वह अच्छे रेस्तरां में खाना खाता, अच्छी शराब पीता और अच्छे व्यवसाय में संलग्न दिखाई पड़ता है।..... दाढ़ी बढ़ाना और चीकट वस्त्र पहनना वह अपराध मानता है।

-लहर, 1967, कवितांक उत्तरार्ध, पृ0 10

इस वक्तव्य से 'अभिनव काव्य' और 'अकविता' के सहयोगी और तथाकथित 'भूखी पीढ़ी के हिन्दी-चौधरी' राजकमल जैसे अनेक दाढ़ीदार बीटानुभवी कवियों की स्थिति अवश्य अपराधी की हो गयी होगी, भले ही वे 'प्रारंभ' की चतुर्दशी में सम्मिलित होने के नाते मुलाहिजे में कुछ न कह पाये हों।

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले 'विद्रोही पीढ़ी' नामक सात कवियों के एक संकलन में भी यह अन्तर्विरोध साफ दिखायी पड़ता है। एक ओर उसमें दिवंगत कवि केशनीप्रसाद चौरसिया की यौन विकृति से बजबजाती नंगी-भूखी शब्दावली की व्यवहारिक संस्तुति है, दूसरी ओर भूमिका भाग में 'विद्रोह की दिशा' बताते हुए अमेरिकी 'बीट' कवियों में मिलने वाले विद्रोह के दिखावटी स्वर की निंदा भी की गयी है क्योंकि उसमें प्रकारान्तर से उनके द्वारा वही जीवन-दर्शन अपना लिया जाता है जिसके प्रति विद्रोह किया जाता है। कहना न होगा कि इस संकलन का विद्रोह भी उससे अलग साबित नहीं हो सका। इसमें भी वही शमशेरी वृत्ति दिखायी देती है जिसमें रूसी प्रगतिशीलता और अमरीकी बीटनिकता एक साथ निर्विरोध स्थित मिलती है। सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का भारतीय राजनीति में नहीं, साहित्य में भी मजे से पालन हो रहा है। 'जाज' भी और 'जाजोमेनिया' भी। जिन्सवर्ग भी और येब्तुशेंको भी। इससे पहले कि मैं बीटनिक कविता का प्रसंग समाप्त करूँ, तीन लेखों का जिक्र और कर देना चाहता हूँ क्योंकि उनमें भी पूरी सहानुभूति के साथ इस आन्दोलन के विदेशी और देशी रूपों का परिचय प्रस्तुत करते हुए अन्ततः उनकी वरेण्यता पर संदेह प्रकट किया गया है। पहला लेख है 'बीमार, बुभुक्षित, हिबाकुशा' जो 'समिधा' के 'पावस अंक' में (अगस्त, 1965) प्रकाशित हुआ है और जिसमें सही कहा गया है कि 'आक्रोश का ठीक पात्र ढूँढ़ना विद्रोह की पहली जिम्मेदारी होती है।' लेखक ने 'बुभुक्षित या बीमार पीढ़ी को आज की विश्व व्याप्त परिस्थिति की देन' बताते हुए भी

आइन्सटीन और एरिक सॉं का मत देकर अंततः सामाजिक उत्तरदायित्व में आस्था रखने के कारण अस्वीकार कर दिया है। दूसरा लेख 'बीट जेनरेशन' डॉ0 कुमार विमल का है जो 'माध्यम' के जनवरी '66 के अंक में छपा है और तीसरा 'भूखी पीढ़ी' डॉ0 रमानाथ त्रिपाठी का जो 'वातायन' के मार्च '66 के अंक में प्रकाशित हुआ। डॉ0 विमल ने एक बीट कवि की पंक्ति 'आई हैव मिस्टिकल विज़ंस एंड कास्मिक वाइब्रेशंस' उद्धृत करते हुए टिप्पणी की है, किन्तु 'बीटजेनरेशन' के पास, सही मायनों में आध्यात्मिक मूल्यों और अभौतिक सत्यों के अन्वेषण की कोई भूख नहीं है। वे परम्परा का खुल कर विरोध करते हैं और आत्मसुख को ही आचरण का प्रमाण मानते हैं। भविष्य के अस्तित्व से इन्कार और 'फाइनेलिटी ऑफ डेथ' में विश्वास, समाज से अपने को 'डिस्एफिलिएट' करने की भावना, सामूहिक मृत्यु-भय से उत्पन्न अन्तर्द्वंद्व, अनियन्त्रित वैयक्तिकता आदि के पीछे निहित कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने हिन्दुस्तानी की 'भूखी पीढ़ी' के युवक साहित्यकारों के बारे में बिहारी संस्कार-सम्पन्न तत्सम-प्रधान रोचक हिन्दी में जो पाद-टिप्पणी दी है वह साक्षात् दर्शनीय है—

'जो भुक्खड़ होकर भी 'अविश्वास्य क्षमता' से युक्त हैं, आमिषाशी यौन भावना' के 'आत्मंभर' पुजारी हैं, आधुनिक युग की द्वन्द्वविलासिता में रस लेते हैं, नांदनिक एवं नैतिक के समान्तराल संघर्ष को व्यर्थ मानते हैं और चित्रानुग स्निग्धता से युक्त अपनी उत्कविता के द्वारा क्षुधार्तवाद या 'हंग्रियलिज़्म' को तूल देते हैं। फलस्वरूप इनके काव्य-दर्शन को मृत्युमेघी शास्त्र कहा जा सकता है।'

बहरहाल इतना तो समझ में आ ही जाता है कि लेखक ने वीट जेनरेशन और उसके प्रभाव से उत्पन्न कविता (उत्कविता) का समर्थन नहीं किया है। 'मृत्युमेधी' या 'मृत्युकामी'? सोचने की बात है।

तीसरे लेख में भी बहुत सी रोचक बातें एकत्र करके बीटनिकों की बंग-धारा के भीतरी स्वरूप को पहचानने की चेष्टा की गयी है। घोषणा-पत्रों के अनेक अंश, कविताओं की पंक्तियों के अनूदित रूप तथा प्रचार-वाक्य प्रस्तुत करने में पर्याप्त श्रम, उठाया गया है, परन्तु निष्कर्ष यही निकाला गया है कि—

'लगता है इनकी भूख सेक्स और आत्मप्रचार की है। .... वासना के प्रबल आवेग के समय नारी अंगों के साथ जो उखाड़ पछाड़ करने की तीव्र असहय एवं कष्ट दायक तीव्र लालसा जागती है उसी का सत्य (टू) वर्णन अधिकांशतः भूखी कविता का सत्यवाद रह गया है। चूँकि अमेरिकन बीटनिक प्रतिष्ठित जनों के शिष्ट आचार को ऊपर की नकाब कह कर उसका विरोध करता है अतएव भूखे लोगों ने भी कुछ वयोवृद्ध लोगों के पास मुखौटे भेजे थे कि लत जीवन मूल्यों का नकाब उतार फेंको, जीवन मूल्यों का निर्धारण क्या इन आचारहीन विक्षिप्तों के द्वारा होगा ?

- वातायान, पाठक अंक, प0 40-41

मैं यह जानता हूँ कि ऐसी आलोचना में प्रायः अतिवाद होता है और वास्तविकता की उपेक्षा भी निहित रहती है, परन्तु मेरा उद्देश्य यहाँ सामान्य प्रतिक्रिया के स्वरूप को सामने रखता है। यह नहीं माना जा सकता कि 'महिलाओं के निचले हिस्से में फूल बगान और बाकी जगह श्मशान' देखना ही आज की सही दृष्टि है और यदि इसे सारा मानव-समाज अपना ले तो आबाल-वृद्ध-नारी-पुरूष, कवियों को छोड़कर नहीं, सबका उद्धार हो जायेगा। क्षुधा और काम को नितान्त अमर्यादित रूप में ग्रहण करना आधुनिक जीवन के गहन सांस्कृतिक संकट का परिचायक भले ही हो उसका विश्वसनीय निदान नहीं है, क्योंकि इनके वेग के द्वारा मानवीय सहानुभूति बहुधा कुचल दी जाती है और मनुष्य कंकाल के सदृश खोखला दिखायी देने लगता है।

गीत कविता: नवगीत, अगीत और एण्टीगीत

'नवगीत का समुचित विकास सन् 1950 के बाद नयी कविता के युग में ही हुआ है।' यह जुमला प्रमुख गीतकार डॉ0 शम्भूनाथ मिश्र का है (द्र0 प्रयोगवाद और नयी कविता, 281) और उनके अनुसार 'नयी कविता आधुनिक व्यक्ति-मानव की कविता है' अतः उनकी दृष्टि में नवगीत की पहचान भी इससे विलग नहीं होनी चाहिए। नयी कविता से नवगीत का अलगाव कोई खास मायने नहीं रखता क्योंकि 'नयी कविता एक काव्य प्रवृत्ति है और गीत एक काव्यगत शैली मात्र'। ऐसे कृत्रिम विभाजन का विरोध औरों ने भी किया है। सन् 1964 में 'कविता' का जो 'नवगीत का प्रथम समवेत संकलन' ओम्प्रभाकर के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ उसमें अज्ञेय जी का एक पत्र छापा गया जिसमें उन्होंने लिखा-

'नयी कविता' और 'नवगीत' इस प्रकार के नामों से तो एक कृत्रिम विभाजन ही आगे बढ़ेगा और कविता की प्रवृत्तियों को समझने में बाधा ही अधिक होगी।' अप्रैल सन् '65 के अंक को 'वातायन' के सम्पादक ने चौकने वाली मनोवृत्ति से ऊपर उठने की चेष्टा में 'नवगीत अंक' न कहकर 'आज का गीत अंक' कहना ही उचित समझा पर उसमें भी अज्ञेय जी की उक्त धारणा उद्धृत कर दी गयी है और माना गया कि - " नई कविता' और 'नवगीत' अधिक दूर नहीं रहे। 'नवगीत' गीत विधा के लिए आवश्यक रूप से हटता गया और केवल नाम ही उसका गीत रहा शेष सब गायब।" डॉ0 महावीर दाधीच ने इसी अंक में प्रकाशित एक लेख में यह सिद्ध किया है कि नये गीतकार नयी कविता को अपना आदर्श मानते हैं जो हीन-ग्रन्थि का परिणाम है तथा नवगीत को नयी कविता बनाना आत्मघाती सिद्ध होगा। मौका-माहौल देखकर किन्हीं माहेश्वर प्रसाद ने 'अगीत' का नारा लगाया और

राजीव सक्सेना ने अपने 1964 में प्रकाशित कविता-संग्रह 'आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ' में एण्टीगीत की बात उठाते हुए लिखा—

'मैं अकसर अपनी कविताओं को 'गीत' कहता हूँ, तो इसलिए कि मैं उनमें वह जादुई तत्व पैदा करना चाहता हूँ जो आदिम कविता में था या जिसे हम बाइबिल के अँग्रेजी अनुवाद में देख सकते हैं। किन्तु वे संगीत से शून्य और छपे हुए रूप में पढ़ने के लिए लिखी गयी है, इसलिए उन्हें 'एण्टीगीत' कहना शायद अधिक सही होगा।'

और इस डर से कि कहीं किसी को गीत के इस नये रूप से नयी कविता का भ्रम न हो जाये, कवि न यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं तथाकथित 'नयी कविता' के दायरे में नहीं आता। मैं उसकी भावना और जागरूकता की कद्र करता हूँ।

'समिधा' के 1965 में प्रकाशित दूसरे अंक में निष्कर्षतः 'भाषातीत गूँज' की महत्वपूर्ण बात उठाते हुए 'नये गीत', कुछ प्रश्न, कुछ प्रश्न कुछ रेखाएँ' लेख के अनतर्गत केदारनाथ सिंह ने भी गीत की प्रचलित धारणा में परिवर्तन करने की आवश्यकता' पर बल दिया। 'गीत' और 'गीति' का विभाजन उन्हें अनावश्यक दिखायी दिया और गुरूदेव के अनुरूप गाये जाने वाले गीत को 'गान' कहना 'निर्णायक' प्रतीत हुआ। उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'गीत ने नयी कविता की उपलब्धियों से काफी लाभ उठाया है।'

इस प्रकार गीत का नव्यतम रूप् अपने को मात्र गीत कहने से हिचकिचाता है और 'नव', 'अ', या 'एण्टी' विशेषण जोड़कर सर्वथा परिवर्तित रूप में सामने आना चाहता है मगर 'गीत' शब्द को वह अपने भीतर से खोना भी नहीं चाहता है। यह स्थिति ठीक वैसे ही है जैसे सारे उल्टे-सीधे विशेषण लगाने के बाद भी 'कविता' कहलाने की हविस, जो फिलहाल छूटती नहीं दिखायी दे रही है।

एक ओर नये गीत का रूप इतना टूट चुका है कि उसे ठीक से पहचानता मुश्किल है दूसरी ओर गीतों का एक लोक प्रिय राजकुमार अपनी लुटती हुई सल्तनत को सम्हालने की नाकाम कोशिश में बेमानी फलसफा बधारता हुआ गीत को कभी 'लट्टू' और कभी 'बिजली का पंखा' बतलाता है और कभी कहता है 'गीत बताशा है' पानी में पूरी तरह घुल जाने वाला। सच मानिए मेरे मुँह में पानी भर आता है ऐसी लजीज तशबीह देख कर। (द्र0 हिन्दुस्तान, 30 अक्टूबर 1966 में 'प्रश्न चिह्नों की भीड़ में घिरा गीत')। गीत सिर्फ अपांगो से देखता है खासकर तब जब कवि सम्मेलनी मंच पर कवि उसे सर्वांगो या उपांगों से गाता है। 'भाववधू है, गेयता पालकी' जय कन्हैयालाल की ! पानी में घुल जाने वाली इसी बताशे के बूते 'आस्था की पुत्री' 'भावुकता' 'अनास्था की बेटी, बुद्धि' से अगले दस वर्षों में जीत जायेगी, ऐसा सुन्दर स्वप्न देखा जा रहा है कवियों के एक ऐसे वर्ग द्वारा, जिसने अपने हथियार नहीं डाले हैं।

उसी साप्ताहिक हिन्दुस्तान के पृष्ठों में उसी गीतों के राजकुमार की गीत देखिए -अंक 37, सन् 1967, पृ 4।

मेरी समझ में नीरज जो भी अब फैशन के चक्कर में आकर अपनी तुकवादी और गेय कविताओं या गीतों की परिपाटी छोड़कर 'नई कविता' के घेरे में घुस पैठ कर रहे हैं। लेकिन यह कविता इस बात का प्रमाण है कि वे इस कोशिश में नाकामयाब रहे हैं।

कैसी विडम्बना है, 'गीत' का समर्थक नयी कविता के घेरे में घुस-पैठ करना चाहता है, मगर नाकामयाब रहता है और 'एण्टी गीत' का पथ प्रदर्शक 'नयी कविता' के घेरे से बाहर जाना चाहता है पर वह उससे छूट नहीं पाता। नयी कविता का 'घेरा' यदि इतना मजबूत हो चुका है कि भीतर और बाहर की समझ उसके सहारे ही हो पाती है तो इसके लिए कोई क्या करे, वैसे मैं घेरावादी मनोवृत्ति का 'रस सिद्धान्त' में भी विरोधी हूँ और 'नयी कविता' में भी।

'कविता', बिहार के नकेनवादियों को नहीं, अलवर राजस्थान की, कहती है कि 'नयी कविता की एक उल्लेखनीय उपलब्धि नवगीत है।' और उसकी ओर से नवगीत का जो 'प्रथम समवेत संकलन' प्रस्तुत किया गया वह 'नवगीत का 'तारसप्तक' सिद्ध हुआ है।' सितम्बर '66 के अंक में उसने 'नवगीत' और 'नयागीत' को चर्चा-परिचर्चा' का प्रमुख अंग बनाया उसकी अन्विति का अन्दाज इसी से लग जायेगा कि दोनों लेख एक दूसरे की ओर देखते है, न एक दूसरे के विपरीत। 'नवगीत' के बारे में वीरेन्द्र कुमार जैन का कहना है कि 'नवगीत' हिन्दी कविता की शिथिलता का प्रमाण है 'ऐसा उन्हें नहीं कहना चाहिए। वे 'नवगीत' शब्द से नहीं, उसके स्वरूप और उसकी प्रेषणीयता से असहमत हैं। उन्हें असहमत बनाया हिन्दी के चार नवगीतकारों में से एक के इस कथन ने की-'नवगीत वह कविता है जो आज का सम्पूर्ण जीवन है।' लेखक ने प्रश्न किया है कि क्या इस 'सम्पूर्ण जीवन में 'भेड़नुमा जनता' का जीवन भी शामिल है?' उसके ख्याल से सारी दुनिया के नव उम्र साहित्यकार 'आग' की जुबान में लिखा रहे हैं, लेकिन हिन्दी में 'नवगीतकार' उस आग को बुझाने की कोशिश में मुब्तिला हैं जो नयी कविता और नयी कहानी ने लगायी थी। नवगीतकारों के कहे का क्या असर हो पाया शायद यह बताने की जरूरत अब नहीं होगी।

दूसरे लेख में उदयभान मिश्र ने 'नवगीत' को 'नयागीत' कहना ज्यादा सही, समझा इस सफाई के साथ ही कि वे ऐसी 'नयी कविता' के वजन पर नहीं कर रहे हैं। आगे जो सिद्ध किया वह यह कि 'नयागीत' नयी कविता ही है, उससे स्वतन्त्र कोई विधा नहीं, नये गीत को नयी कविता से अलग हटकर उसे स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित करने का कोई भी प्रयास उचित नहीं'। इस पर भी किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है, 'नयागीत' चाहे 'जनगीत' ही क्यों न कर दिया जाये। '67 की 'लहर'

के कवितांक उत्तरार्ध में नवगीत के प्रमुख प्रवक्ता ओम्प्रभाकर ने पुनः कलम सम्हाली और 'सवाल नवगीत का' दुबारा उठा डाला। मगर उनके आगे इस बार सवाल 'नवगीत' का उतना नहीं जितना कविता का है और कविता का भी उतना नहीं जितना 'भारतीय कविता' का। इसके लिए उन्होंने खोज की है उसकी जिसे हिन्दी में 'नयी कविता' कहते हैं तथा व्यतीत क्रम के साथ जिसकी 'साम्प्रतिक' स्थिति भी है। उन्होंने 'परम्परा को नकारने' की दुहाई देने वालों के 'अभूतपूर्व' और 'अद्‌वितीय' शब्दों पर आग्रह का प्रतिवाद किया है और हिन्दी कविता के समसामयिक स्वरूप को लक्षित करते हुए खेद प्रकट किया है—किन्तु आज नयी कविता का तो कुछ दिग्भ्रमित और संकुचित दृष्टि वाले 'आधुनिकों ने रूप ही बना दिया है।' ओम्प्रभाकर की धारणा है कि 'आधुनिक' या 'अकवि' ऐसा कुछ भी नहीं कर सके जो उन्हें मुक्तिबोध आदि की पूर्ववर्ती अनेक कवि' सरणियों से पृथक् या विशिष्ट स्थिति में खड़ा कर सकता। उनकी धारणा है कि ऐसे ही कवियों के 'कुप्रयासों से वस्तु और शिल्पगत 'वल्गेरिटी' आज नयी कविता के काफी भाग को ग्रस्त किये हुये है।

'नयी कविता अपने नयेपन में रूढ़ हो गई और नये कवि नयेपन के ज्वर से ग्रस्त हो सन्निपात की स्थिति में पहुँच आँय-बाँय-शाँय बकने लगे' हैं। निश्चय ही यहाँ 'नये कवि' शब्द से उन्हें भी इंगित किया गया है जो इससे अपने को अलग करना चाहते हैं और अपनी दृष्टि में कर भी चुके हैं। 'धर्मस्य ग्लानि' के ऐसे कलिजुग में लेखक के मत से कुछ एकदम प्रारम्भिक कवियों ने हिन्दी कविता को एक नये, किन्तु पूर्ण और स्वस्थ दृष्टिकोण से देखना और उसे जीवन के समस्त संदर्भों में स्वीकारना आरम्भ किया है और यह वही हैं जो 'संगीत और लय को अनिवार्य मानते हैं तथा 'नवगीत' की रचना करते या कर रहे हैं।' स्थिति की आलोचना ने जो आकांक्षा जगायी वह प्रस्थापना से पूरी नहीं हुई और मुझे लगता है कि बात बजाये सुलझने के 'नवगीत' के एकांगी नारे उलझ में कर रह गयी।

'नवगीत, सामानान्तर स्थापना और उभरे प्रश्न चिन्ह' शीर्षक, ठीक उसी के बाद छपे लेख में वीर सक्सेना ने भी 'नवगीत को नयी कविता की 'कथनीय क्षमता' (मतलब कथन-क्षमता से है) और उसके कथ्य की 'विस्तारक विधा' बताया है। उनकी दृष्टि में 'नयी कविता की जो संभावनाएँ आज चुकती हुई प्रतीत होती है, उसके मूल को 'नवगीत' के रचनाकारों ने समझा है। उन्होंने 'नवगीत' की विशेष प्रकार की 'गीतात्मकता' को 'संगीतात्मकता' से एकदम भिन्न माना है। उनके अनुसार 'नवगीत कविता के नये धरातल की खोज है।' और 'नवगीत की सम्पृक्ति आज रूमानी नहीं है, वह पारस्परिक है यानी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को जोड़े रखने वाली सम्पृक्ति है। उसके भीतर आज भावुकता के क्षणों वाली रागात्मकता नहीं है, 'एक तटस्थ रागात्मकता' है। अब यदि आपकी दृष्टि उन नामों पर जाये जिन्हें नवगीतकार बताया गया है तो आप बिना नाव के ही धार के बीच ठहर कर 'रागात्मकता' के इस रहस्यमय 'तटस्थ' रूप को सुविधापूर्वक देख लेंगे। सुना है दिल्ली की 'चौथी

वंध्या संध्या' में 'गीत' की पूरी 'गीता' गायी गयी। राही ने 'मंचीय गीत' आदि के स्थान पर 'आधुनिक गीत' की माँग की। गीत के चार भेद किये जाएँ या चौदह इसे कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह दिखायी दे रही है कि बहुत रच-रच कर कहने पर भी कहा हुआ पूरी तरह लहता नहीं है, क्योंकि दृष्टि वस्तुगत खोज पर उतनी टिक नहीं पाती जितनी स्थापनाओं को गढ़ कर चला देने में लग जाती है। नवगीत को नयी कविता का पूरक मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। मुक्तिबोध ने भी फरवरी '60 की कृति' में दोनों में विरोध मानने से इन्कार किया है। परन्तु मैं इस तथ्य से भी अपनी आँखें हटा नहीं सकता कि आज गीत काव्य-सृजन के व्यापक क्षेत्र में 'अपवाद' के रूप में ही सामने आ रहा है, 'नियम' बनने की स्थिति उसकी नहीं रह गयी है। 'आधुनिक गीत' 'अगीत' या 'एण्टीगीत' भी कोई वास्तविक समाधान प्रस्तुत नहीं करते, क्योंकि इन संज्ञाओं से 'गीत' शब्द को अनावश्यक महत्व प्राप्त हो जाता है। सन् '61 में 'लहर' के कवितांक में मैंने 'नयी कविता और गीत शैली' नाम से जो कुछ लिखा था उसमें, इतने विकास के बाद भी, मौलिक धारणा विषयक कोई परिर्वतन अपेक्षित प्रतीत नहीं होता है; 'कल्पना' 184 में शिवप्रसाद सिंह का 'नवनीत: एक प्रतिक्रिया' शीर्षक लेख देखने के बाद भी। नयी कविता का श्रीगणेश आंचलिक शब्दावली नवगीत की प्रवृत्ति से मानना गलत है।

युयुत्सावादी कविता

'युयुत्सा' की विचारधारा के साथ इसी नाम की पत्रिका के सम्पादक शलभ श्रीरामसिंह का व्यक्तित्व विशेष रूप से सामने आता है। अप्रैल, 1965 की 'रूपाम्बरा' में 'प्रारम्भ' के अन्तर्गत स्वदेश भारतीय द्वारा 'सब का एक मात्र कारण युयुत्सा' की घोषणा करते हुए शलभ का यह उद्धरण दिया गया-

'मैं साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा के रूप में उसी आदिम युयुत्सा को स्वीकारता हूँ जो कहीं 7 कहीं प्रत्येक क्रान्ति, परिर्वतन अथवा विघटन के मूल में प्रमुख रही है। वह युयुत्सा जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक अथवा प्लैटोनिक कुछ भी हो सकती है।'

अगस्त 1966 में 'युयुत्सावादी नवलेखन प्रधान सहकारी प्रयास' के रूप में इसी 'रूपाम्बरा' का 'अधुनातन कविता अंक' प्रकाशित हुआ जिसमें तीन युयुत्सावादी कवियों के वक्तव्य छपे तथा सम्पादक द्वारा 'न्यूसेन्सिविलिटी की बात नूसेन्स सेन्सिविलिटी' प्रमाणित हो जाने पर क्षोभ प्रकट करते हुए 'आँखों पर चढ़ी धुन्ध' को हटाकर यथार्थ को देखने और अपने आधार को पहचानने का आग्रह किया गया है।

'कल सुबह होने से पहले' नामक शलभ श्रीरामसिंह के, '66 में प्रकाशित कविता संग्रह में कवि का परिचय दिया गया-शलभ 'नवगीत', 'नयी कविता के गीत' या 'गीत' का कवि है वह अपने समय के साथ विवेकपूर्ण ढंग से जुड़ना चाहता है।'

पूर्व उद्धरण में 'प्लैटोनिक' शब्द 'विद्रोहात्मक, से 'अथवा' द्वारा जुड़कर जितना विचित्र लगता है उससे अधिक विचित्रता नवगीतकार कवि द्वारा युयुत्सावाद के प्रवर्तन में दिखायी देती है। यों संग्रह की कविताएँ अच्छी-खासी हैं और एक उभरते हुए ऐसे जागरूक तरूण व्यक्तित्व के निकट ले आती हैं जो बीटनिकों और जनवादियों के द्वन्द्व के बीच, अपनी परम्परा और इतिहास को नकारे बिना एक राह खोजने के लिए उत्सुक दिखाई देता है। उसे चिंता है उस तीसरे व्यक्ति की जिसका हाथ यान्त्रिकता के तथाकथित दबाव के भी पीछे छिपा हुआ है। युयुत्सा की सार्थकता जहाँ और अनेक कारणों से है वहाँ यह 'तीसरा व्यक्ति' भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।-

'फैशन के नाम पर अंधा-धुंध साहित्य लिखने वाले लेखकों की एक भीड़ अनजाने इस षड्यंत्र की जड़ मजबूत करने में लगी हुई है। व्यक्तिगत स्थापना की लालसा इन लेखकों को मूल बिन्दु से हटाकर एक ऐसी आधुनिकता के समीप ले जा रही है जहाँ जातीय बोध आधारहीनता की स्थिति को सहज ही प्राप्त होता जा रहा है। इसका एक मात्र और भयानक कारण यह है कि आज साहित्य और जन-साधारण के बीच एक तीसरा व्यक्ति आ गया है।...... आवश्यकता है गलत हाथों की पकड़ से यान्त्रिकता को मुक्त कराने के लिए संतुलित विद्रोह की। विद्रोह जो एक विचारधारा के व्यक्तित्वों द्वारा चिंतन के स्तर पर हो।' -सम्पादकीयवत्, युयुत्सा, अक्टूबर 66

इस वक्तव्य में पहली बार संतुलन, आधारहीनता के संकट से मुक्ति और वास्तविक किन्तु परोक्ष परातन्त्र्य के प्रति विद्रोह की बात, चिंतन के एक समान स्तर की माँग के साथ, कही गयी है जो अनुपेक्षणीय लगती है। परन्तु सही किस्म के समानर्धा न मिल पाने के कारण 'युयुत्सा' का 'विद्रोह' भी यथेष्ट शक्ति अर्जित किये बिना ही बिखर गया। इसी अंक के 'युयुत्स-पृष्ठ' पर विमल पाण्डेय ने इसे असंतुलित मनः स्थिति वाले 'एंग्री यंग मैन' से जोड़ते हुए देकार्त के 'काज़िटो इर्गोसम' तक पहुँचा दिया है। यही नहीं डार्विन के 'सर्वाइवल आफ़ दि फिटेस्ट' के सिद्धान्त का भी स्मरण करके यह विश्वास प्रकट किया गया है कि 'युयुत्सा अनिवार्य रूप से हमारी पीढ़ी से सम्बद्ध है।' अब यदि कोई वाद विशेष से न भी जुड़ना चाहे तो भी उससे बच पाना मुश्किल है। एक और मानव (हम तो विश्वम्भर मानव को ही असली मानव समझते रहे) रामेश्वरदत्त मानव ने गीता का नाम लेकर अर्जुन के 'सीदन्ति मम गात्राणि' की भावना को 'एण्टी युयुत्सा' के रूप में देखा है और साथ ही ज्यार्जी इवानोब के फ्राँस पलायन और अमानवीय भाग्यवाद से चिढ़कर उसे मारे 'एण्टी युयुत्सा' के

'गरदनिया देकर' पटक देने की परम मानवीय भावना व्यक्त की है, क्योंकि दूसरे गाल पर चपत खाने वाला कायर मसीही आदर्श युयुत्सुओं का आदर्श नहीं है। हर अंक के युयुत्सु पृष्ठ का 'मोटो' है- **'युयुत्साः अब तक के होने वाले प्रत्येक परिर्वतन क्रान्ति अथवा विघटन की आधार शिला। लेखन की मूल विन्दु-भूमिः युयुत्सा'।**

नवम्बर के अंक में एक लेखक द्वारा राजकमल चौधरी को व्यंग्यात्मक ढंग से हिन्दी वालों के ज्ञान के अनुसार 'वह एक दुष्ट आदमी है, दुष्ट लेखक है' के रूप में स्मरण करते हुए युयुत्सा को 'मुमूर्षा' स्थान पर 'जिजीविषा' से जोड़ा गया है और अन्ततः उसका लक्ष्य निर्धारित करते हुए बताया गया है कि 'साहित्यकार की युयुत्सा का अर्थ है कि वह स्वयं से बड़े किसी बृहत्तर उपार्जन के लिए संघर्षरत है, युयुत्सावादी है। युयुत्सावाद, संक्षेप में समर्पण की परिसमाप्ति में ही होना चाहिए।' 'समर्पित' बनाम 'कामिटेड' की सफाई देते हुए युयुत्सावाद के प्रवर्तक के विषय में मजेदार तर्क दिया गया है 'शलभ युयुत्सावादी इसलिए है कि वह एक पत्नीव्रती नहीं है और अर्थतः सम्पन्न भी नहीं।' फिर अन्त में सीधे 'समाजवादी क्रान्ति' की बात करने की नेक सलाह दे दी गयी है। दूसरे लेखक ने दो एक और परिभाषा-वाक्य जड़ दिये –'युयुत्सा एक ऐसी उर्जा है युयुत्सु सक्रिय शक्ति है जिसे समूह में या अन्य किसी तरह भी नहीं बाँधा जा सकता। ..... युयुत्सा युयुत्सु को निःशुल्क युयुत्सा के कारणों का चलचित्र दिखाती रहती है।' अतिवाद में यह भी कहा गया है कि हम 'युयुत्सा के प्रति भी युयुत्सु हो जाएँ। हम संभावनाओं के प्रति भी युयुत्सु हो सकते हैं, असंभावनाओं के प्रति भी और परिणामों के प्रति भी।' मेरा कहना है 'अबहि हूजिए हूजन जोगू।'

अब यदि नवगीतकार शलभ युयुत्सावाद का प्रर्वतन करते हैं तो 'नवगीत' आन्दोलन के प्रर्वतक ओमप्रभाकर उसका समर्थन क्यों न करें। दिसम्बर के अंक में वह भी हो गया। (देखिए 'युयुत्सा' पृष्ठ 90)।

'धर्मक्षेत्र मुझे दिखाई नहीं देता। कुरूक्षेत्र एक स्थान अवश्य है। आज कहीं कोई भी समवेत नहीं है-नहीं रहा। केवल युयुत्सवः है। और वह तथ्य है-प्रत्यक्षतः एक प्रिय तथ्य।'

बीटनिक या भूखी पीढ़ी वाले शाश्वत और सनातन को गाली देते हैं, निषिद्ध मानते हैं परन्तु ओमप्रभाकर युयुत्सावाद के समर्थन में उसे वरेण्य बताते हैं।

'युद्धेच्छा एक सनातन वृत्ति है, एक आदिम स्वभाव है। ...... मनुष्य मात्र अपने से ही जिस वृत्ति के वशीभूत होकर सबसे अधिक सक्रिय होता रहा है वह वृत्ति युयुत्सा ही है। ...... युयुत्सा हमारी नियति है।'

जैसे वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करते थे, सारी विशेषताएँ, सारे गुण, सर्वोपरि होने की अनन्य शक्ति आदि सब कुछ उसी में देख लेते थे और सुन्दर ऋचाएँ रच डालते थे उसी प्रकार यह वादी वक्तव्य होते हैं। जो शब्द हाथ आ गया उसी पर सारी आहुतियाँ चढ़ा दी गयीं; सारे मन्त्र अर्पित कर दिये गये। प्रशस्ति-गान के साथ यों कुछ मर्म की बातें भी कही गयी है, मसलन यह कि '**आज हमारी युयुत्सा अनिच्छित युयुत्सा है। आज हम विज्ञान की सहायता से सर्वाधिक शक्तिशाली होते हुए भी सबसे अधिक कमजोर हो गये हैं।'** या यह कि 'युयुत्सा हमारी मूल वृत्ति है। मगर साथ ही हम शान्तिप्रिय भी हैं।' और यह भी कि 'अपने अस्तित्व के लिए परिवेश के विरोध में हमारा युद्ध चलता रहता है।....किन्तु एक विडम्बना यहाँ भी होती है। हर व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए युद्ध कर रहा है। सब लड़ रहे हैं। मगर किससे? क्या हम ही अपने शत्रु हैं।'

इस तरह के विरोधों या अन्तर्विरोधों को लक्षित करने से लगता है लेखक की पकड़ वास्तविकता पर है, परन्तु सहसा वादी मनोवृत्ति अपना लेने से वह बहुत गहराई तक न जाकर एकांगी और ऊपरी होकर रह गयी है। एक तीसरे लेख में कहा गया है कि 'साहित्य के क्षेत्र में इससे अधिक शाश्वत दृष्टि और कोई भी नहीं हो सकती। युयुत्सा को 'सनातन' नवगीतवादी ओम्प्रभाकर ने कहा, तो उसे 'शाश्वत' नवगीत के अन्य पक्षधर नीलम ने सिद्ध कर दिया। वस्तुतः मानव की सभी मूल वृत्तियाँ प्रकृति से कालातीत हैं तो क्या प्रत्येक के नाम पर कविता का एक एक वाद इसी तरह प्रशस्ति गाते हुए चलाया जायेगा? क्या इससे अनिच्छित रूप में युयुत्सावाद के स्थान पर सनातन अतिवाद की स्थापना नहीं होती है ?

कहा जा चुका है कि एक समर्थक ने 'एंगी यंग मैन' से युयुत्सावाद को जोड़ा है और मैंने एक जगह पढ़ा है कि एक जिज्ञासु द्वारा प्रश्न किये जाने पर भूखी पीढ़ी के सुनील गंगोपाध्याय ने उत्तर दिया था कि चूँकि इस भारी समाज को बदलने में असमर्थ हैं अतः जब भी कोई विरोध या वैषम्य दिखायी देता है, वे उस पर मल्ल युद्ध के जापानी दाँव 'जुजित्सु' की शैली में सीधा आक्रमण कर देते हैं (द्र0 7 मई, '67 के लीडर के मैगजीन सेक्शन में छपा डी0 पी0 भट्टाचार्य का बंगाली बीट कवियों से सम्बद्ध लेख) असंभव नहीं कि युयुत्सावादियों को यह जापानी दाँव भी मालूम रहा हो, क्योंकि उनका केन्द्र भी वही कलकत्ता है जो बँगला साहित्य का गढ़ है। किन्तु शलभ ने – 'युयुत्सा' के जनवरी, '67 के अंक में 'सामाजिक स्थिति में दोहरे परिवर्तनों' के आ जाने और 'दो प्रक्रियाओं से एक साथ गुजरने की विवशता के कारण अपने 'भूल वैचारिक स्वरूप' के 'कुछ का कुछ' हो जाने की शिकायत करते हुए लिखा है कि 'हम स्वयं से अधिक बीटनिक दीखने लगते हैं।' यानी उनका 'स्वयं' 'बीटनिक' से भिन्न है या रहना चाहता है। यह शिकायत भी अन्ततः 'तीसरे व्यक्ति' का नाम फिर दोहरा कर ठहर गयी और लगा कि गुफा में दूसरी ओर द्वार है ही नहीं। उन्हें अपनी 'युयुत्सा' का विवेकपूर्ण ढंग से बनाये

रखने के अहम मसले पर सोच पाने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। 'युयुत्सा' एक वक्तव्य और 'देकर बजरंग विश्नोई भी उन्हें उस कठिनाई से उबार नहीं पा रहे हैं क्योंकि वह पुनः 'प्रतिद्धता' की बात सामने ले आये हैं जो अति आधुनिक होने में बाधा देती है, भले ही वह ईमानदारों में युयुत्सा जगाती हो ?

निर्दिशायामी कविता

सत्यदेव 'राजहंस' की राँची से भरी गयी अद्‌वितीय उड़ान के रूप में 'लय' नामक पत्रिका का प्रथम अंक 1965 में प्रकाशित हुआ। सम्पादक के अनुसार उसकी 'आधारशिला' 'आधुनिकता की निर्दिशायामी दृष्टि' है। उसने इच्छा प्रकट की 'प्रस्तुत संकलन आधुनिकता के संदर्भ में निर्दिशायामी दिशा' का निर्देश भी करना चाहेगा। इस प्रकार उसकी ओर से दो निर्दिशायामी चीजें हाथ आयीं एक 'दृष्टि' और दूसरी 'दिशा'। संकलन की अन्तिम चार कविता पंक्तियों में जो उसी की रची हुई है एक तीसरी निर्दिशायामी चीज भी सहज ही हस्तगत हो जाती है और वह है, आपको आश्चर्य होगा, 'परी'।

तुमने जो साँस डरकर

अधर पर धरी,

उसके पास रहती है,

निर्दिशायामी परी।

यों सच पूछिए तो उसी की रचनाएँ वास्तव में निर्दिशायामी हैं शेष जो कवि संकलित हुए हैं उनमें से संभव है बहुतों को यह मालूम भी न हो कि वे अपनी 'दिशा' और अपना 'याम' खोकर यह गौरव पा रहे हैं। सम्पादक से ही मुझे ज्ञात हुआ था कि शायद निर्दिशायामी शब्द तथा उसकी पहुँच श्री गिरिजाकुमार माथुर की प्रेरणा से हुई। उनकी कविताएँ भी सम्पादक की कवितओं से ठीक पूर्व स्थित हैं पर वे खुल कर (फिल्मी गीत की एक पंक्ति के मुताबिक) सामने नहीं आये 'आउट साइडर' ही बने रहे, कारण जो भी हो। भूमिका के 'महज आठ पृष्ठ' जो सम्पादक की ओर से प्रस्तुत हैं, कुछ रोचक बातें कहते हैं जैसे यह कि 'कई दर्जन कवियों ने कविकर्म को अपना ही अनुरूप मोड़ा, तोड़ा और अपना उल्लू सीधा किया।...... ऐसे कवियों ने अस्तित्व की जरूरी शर्तों को भी पश्चिम से उधार लिया। यही उनका कच्चा माल था जिसे पकाते-पकाते अपना मूल भी गँवा बैठे। .... सभी ने राजनीति के वाद्‌यों की 'संगत' करने में कविता का इस्तेमाल तबले की तरह किया है' आदि आदि। अन्त में बिहार के प्रति विशेष सद्भाव व्यक्त करते हुए जहाँ पहुँचा गया है वह मुकाम है-'इसी खींचातानी में 'नई कविता' जन्मती है। **'नकेनवाद' ने 'नई कविता' को ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा ही नहीं किया, बल्कि उसे किधर**

जाना है यह भी इंगित किया। एक तरह से कविता को निस्तेज होने से बचा लिया। कविता की 'दुखन्ती' पर सुखन्ती का रंग चढ़ाया श्री नलिन विलोचन शर्मा तथा उनके अन्य समर्थक कवियों ने।.... हमारे कवियों को दिक्-काल की सम्पूर्णता की परिधि से परे जाना है; वहाँ से लौट कर एक क्षण पहले की अनुभूतियों को समेटना है और उनका उदात्तीकरण करना है। औद्योगिक सभ्यता और वैज्ञानिक संस्कृति की व्यापकता का पुनरावलोकन आदमी के अस्तित्व को कायम रखने की दृष्टि से करके उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक आधार पर यान्त्रिक-दर्शन से जोड़ना है। तभी कविता का प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।'

यों ऊपरी तौर पर बिल्कुल आखिरी बात ही कही गयी लगती है मगर उसके लिए निर्दिशायामी होना क्यों जरूरी है यह मूल मान्यता ही सिद्ध नहीं हो पायी। फिर कविता का प्रयोजन उससे कैसे सिद्ध होगा? और 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' के अनुसार तो उस परिधि के पार जाकर लौटना होता ही नहीं है। वहाँ से लौटकर ठीक एक क्षण पहले की अनुभूतियों को समेट पाना राजहंसों के बूते की बात नहीं है, यह अजूबा काम तो कोई 'परमहस' ही कर सकता है।

'लय का विलय हो गया और कोई भला कवि चार जनों के बीच अपने को निर्दिशायामी मानने को तैयार नहीं हुआ। कविता की यह किस्म यों ही हवा हो गयी।

ताज़ी कविता बखोज नंगी भाषा बनाम टटकी कविता (फ्रेश पोएट्री)

लगभग ऐसा ही एक क्षणजीवी नामकरण-संस्कार इसी नगर इलाहाबाद में सम्पन्न हुआ और उसके 'कर्णधार' बने या बनाये गये हमारे मुंशी लक्ष्मीकान्त वर्मा। नयी कविता के प्रतिमान के प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक को सहसा 'ताजी कविता के मतिमान' के रूप में तेवर बदल कर 'नंगी भाषा' बोलते हुए देख पहले तो लोग कुछ चकित हुए, परन्तु ज्यों-ज्यों ताजी कविता के सुविचारित, परम मौखिक, सैद्धान्तिक आधार, शरारतपूर्ण सहसंयोजन का असली रूप सामने आने लगा त्यों-त्यों उनका आश्चर्य कम होता गया और उनकी समझ में आ गया कि 'शरारत' किसकी थी और 'सहसंयोजन' किसका। शरारत करने वाला मन ही मन मुस्कुराता रहा किन्तु प्रर्वतक की खिन्नता के बावजूद सह संयोजकों में से कोई भी इतना आस्थावान् न निकला कि उसके समर्थन में एक लेख ही लिखता। किसी बाहर वाले ने भी कुछ नहीं लिखा। पर हाँ, दो एक अपवाद भी हैं।

'विवेचना' की गोष्ठी में डॉ0 रामदशरथ मिश्र ने इसका अपने लेख में उल्लेख किया और जनता की प्रतिक्रिया देखकर संकुचित भी हुए।

'इलाहाबादी शगूफा' नाम से 'वातायन', वर्ष 4 अंक 9 में पृ0 52 पर एक टिप्पणी छपी है जिसमें लिखा गया है-**'प्रयाग की एक साहित्यिक गोष्ठी में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने एक ताजा स्पुतनिक छोड़ा है-'ताजी कविता' का। यह हिन्दी है जो चाहे अपने अक्ल की नली को साहित्यिक-साबुन से छुआए और फुर्र से एक रंगीन गुब्बारा छोड़ दे। चर्चा की हवा कुछ देर तो उड़ायेगी ही फिर फट्ट।' और टिप्पणीकार ने इस परिर्वतन को नयी कविता से 'डाइवोर्स' के रूप् में देखा है तथा ताजी कविता को 'ट्रेडमार्क' कहा है।**

'क ख ग' के जुलाई 1965 के अंक में अकेले 'मुंशी जी' शहीद होकर रह गये। इक्का-दुक्का पत्रिकाओं और गोष्ठियों में 'ताजी' या 'ताजा' विशेषण की गूँज भर सुनायी दी अन्यथा, बिना किसी शोर-गुल के, 'ताजी कविता' के ताजिए अपने आप दफ्न हो गये। अंक 10 के बाद ही 'क ख ग' के सम्पादकों ने स्वयं कविताओं के साथ ताजी विशेषण छापना बन्द कर दिया। प्रर्वतक ने भी अनुभव किया कि उसके लिए 'नयी कविता' से अपने आप को अलग कर पाना न आसान ही है और न उचित ही। उन्होंने कृपापूर्वक प्रस्तुत अंक में, श्रीराम वर्मा का 'परिचय' लिखना स्वीकार कर लिया, जिसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ, भले ही 'हृदय' शब्द में उन्हें उस 'रागात्मक ऐश्वर्य' की गन्ध मिले जिससे बच निकलने के लिए उन्होंने बेचारी भाषा को नंगा करने में दुःशासन को भी मात कर दिया है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि पौराणिक प्रतीकों के इस तरह प्र्रस्तुत किये जाने पर उन्हें कतई आपत्ति नहीं है। खतरा बस इसी बात का है कि भाषा को नंगी कर देने के बाद कहीं वे भी 'जाँघों के जंगल' में ही फँसकर न रह जायें। पहले उनकी धारणा थी कि 'नयी कविता की विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन सत्य है।'(न0 प्र0 पृ0 41) परन्तु अब वह बदल चुकी है। 'ताजी कविता' की 'कुछ जोड़ बाकी' का आरम्भिक वाक्य है 'आज का निश्चित सत्य है कि नयी कविता का आन्दोलन किसी भी प्रकार के नयेपन का आन्दोलन नहीं रह गया है।' कारण यह कि 'अब नयी कविता प्रतिष्ठित हो चुकी है' और 'नयी प्रवृत्ति की अपेक्षा पुनरावृत्ति की ओर उन्मुक्त होकर बढ़ रही है। मेरा ख्याल है इसी पुनरावृत्ति के भय से ताजी कविता पर लक्ष्मीकान्त जी ने आगे कुछ और नहीं लिखा। पर जो कुछ अपने लेख में लिखा उसमें भी कम पुनरावृत्ति नहीं है। पन्त जी और मेरे बीच 'रागात्मक उद्बोधन की समानता व्यक्त करने वाली, छायावाद और नयी कविता की आपसी 'राजनीतिक भेंटों' की चर्चा करते हुए उन्होंने वस्तु सत्य को पता लगाने और तथ्यों पर प्रकाश डालने के लिए जो कारण-सप्तक प्रस्तुत किया है उसमें रोमानीपन की बात जगह-जगह दोहरायी गयी है। खेद है कि यह कारण निजी 'गुल्ला-त्रिकोण' शैली में नहीं दिये गये अन्यथा प्रभाव में कुछ वृद्धि तो हो ही जाती। 'छायावाद: पुनर्मूल्यांकन' में पंत जी भी यही कहते हैं कि 'प्रयोगवाद और नयी कविता' छायावाद का छायावाद' है और नयी कविता के अन्यतम वकील लक्ष्मीकान्त जी भी इस लेख में यही

सिद्ध करते हैं कि 'नयी कविता का अधिकांश परोक्ष रूप से नाभिनाल द्वारा छायावाद से जीवन-शक्ति लेता रहा था।'

इस विचित्र मतैक्य को दो विरोधी दलों का 'राजनीतिक समझौता' कह सकते हैं। 'राजनैतिक भेंटो' के विशेषज्ञ के लिए विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। मुंशी जी चाहते हैं कि नयी कविता 'अच्छी कविता' न बनने पाये और 'नयी कविता के प्रतिमान' की ही बात की जाये, 'कविता के नये प्रतिमान' क्या हैं या हो सकते हैं,यह मौलिक सवाल उठाया ही न जाये। पर वे 'क ख ग' में प्रतिक्रियावादी विचारों का प्रतिपादक 'नयी कविता: पुराने मान' जैसा लेख छापना पसंद करते हैं जिसमें मूल तत्वों की ही चर्चा की गयी है और कहा गया है कि काव्यानुभूति की पहली शर्त उसकी रागात्मकता है। द्र0 अंक 13, पृ0 50। बौद्धिकता विरोधी यह लेख तो उसी रोमानी विचारधारा का समर्थन करता है जिसके विरोध में ताजी कविता खड़ी की गयी है। यों अगर 'नयी कविता के प्रतिमान को उलट-पलट कर देखा जाये तो बावजूद अपने रूमानी जेहाद के मुंशी की दृष्टि में अन्ततः 'कविता आत्म परक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति ही है। द्र0 पृ0 194। कविता को वे स्वयं नितान्त सम-सामयिकता' के घेरे से उठकर देखना गँवारा नहीं करते, पर मैं इसे भी जरूरी समझता हूँ ताकि व्यर्थ का कुहासा छँट सके और मूल तत्वों पर एक बार फिर दृष्टि जा सके। मैं जड़ों तक जाने को आधुनिक ही नहीं वैज्ञानिक वृत्ति भी मानता हूँ और चाहता हूँ कि अब वे भी इस ओर कुछ सोंच सकें तो सोचें।

खैर, देखा जाये कि अपनी ताजी कविता के बारे में उन्हें खासा क्या-कुछ कहना है— नयी कविता को कोसने की अतिरिक्त। उन्होंने सवाल उठाया है—

'क्या ताजी कविता नयी कविता के आगे का आन्दोलन है?'

यह ताज़ी की माँग क्या है? गलत कविता की सार्थकता क्या है?

- **पहला समीकरण**: ताजी कविता = ग़लत कविता

'ताजी कविता वास्तव में उन समस्त प्रयोगों की असफलता को स्वीकार करके चलती है जो नई कविता ने गत पन्द्रह वर्षों में गढ़ी है। जब मैं कहता हूँ, कि 'नयी' नहीं ताजी कविता चाहिए तो मेरा आशय है कि अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता दोनों एक नितान्त प्रमाणिक और घिसी हुई भाषा के माध्यम से व्यक्त होने के कारण नितान्त 'नयी' अथवा 'ताजी' संवेदना को व्यक्त करने में असमर्थ और झूठी पड़ रही है।'

- **दूसरा समीकरण**: नयी नहीं ताजी = नयी अथवा ताजी

स्पष्ट है कि 'ताज़ी' शब्द लेखक के अन्तर्मन में 'नयी' का ही पर्याय है केवल नया नाम देने के मोह में पड़कर ताज़ी विशेषण का प्रयोग किया गया है और कृत्रिम दर्शन बघारा गया है।

'ताजी कविता आज के यथार्थ और क्षण-भक्त सत्यों के प्रति प्रतिक्रिया रूप में नहीं चलती। वह उन्हें वहन करके **तटस्थ अभिव्यक्ति** देती है, और उनकी समस्त महिमांडित रागात्मता के ऐश्वर्य में निहित **एब्सर्डिटी, अर्थहीनता, लस्टम-पस्टमपन और ऊल-जलूलपन को आभिजात्य 'कोरिलेशन'** के साथ व्यक्त करती चलती है।....ताजी कविता अव्यवस्थित व्यवस्था से जिस एब्सर्डिटी और **अर्थहीनता** के साथ **लस्टम-पस्टम** और **ऊल-जलूल** को व्यक्त करती है, उसे मृत व्यवस्था में अव्यवस्था के माध्यम से नयी व्यवस्था को उसके एब्सर्ड से सम्बद्ध करने की माँग है।..... वस्तुतः हम **एब्सर्डिटी** में ही जी रहे हैं। यही हमारा भोग्य है।

- **तीसरा समीकरण**: ताजी कविता = एब्सर्डिटी की कविता

यदि ताजी कविता सचमुच 'एब्सर्डिटी' की कविता बन पाती तो भी एक बात थी पर वह तो स्वयं एब्सर्ड कविता बनकर रह गयी। जिसके लिए लेखक के पास अपने शब्द तक न हों और स्वयं को कदम-कदम पर दोहराने-तेहराने की विवशता हो, वह उधार के चिंतन पर आधारित प्रवर्तन सिवा 'फिस्स' हो जाने के और क्या असर पैदा करता। यह 'ताजी' शब्द भी पहले 'फ्रेश' के रूप में लक्ष्मीकान्त जी के मन में आया होगा, मुझे इसमें संदेह नहीं। प्रयोगायन, पटना द्वारा मई-1966 में प्रकाशित 'टटकी कविता' भी, उसके सम्पादक रामवचन राय के अनुसार तभी समझी जा सकती है **जब उसके आगे अँग्रेजी में कोष्ठकों के भीतर 'फ्रेश पोएट्री' लिख दिया जाये। स्वसम्पादकीय में क्या दिव्य सानुप्रासिक बात कही है, उन्होंने 'इन कविताओं के टकटोहन के बाद उन्हें टरका नहीं सकेंगे, इसी में उनका टटकापन है। नयी कविता की जगह टटकी कविता के आस्पदित होने का औचित्य आह्निक जीवन में ईप्सित भाव-बोध को ही एक धचका देना'** अपना उद्देश्य मान कर टकारमय पूर्वोक्त जुमला 'टटकी कविता' के प्रवर्तक की ओर से कहा गया है वैसा एक भी 'ताजी कविता' के प्र्वतक द्वारा नहीं लिखा जा सका। जब दोनों ही 'फ्रेशनेश' के हामी हैं तो मेरा प्रस्ताव है कि उसे 'ताजी' कविता उसके लिए भी लागू मान लिया जाये। आखिर तो 'एब्सर्डिटी' ही उनका भोग्य है। इतना ताजा-गरम, सामने परोसा हुआ टटका भोजन और कहाँ मिलेगा। जैसे एक जमाने में 'एब्सट्रैक्ट' उन्हें सिद्ध हो गया था वैसे ही इधर 'एब्सर्ड' उन पर हावी हो गया है।

नीचे ताजी कविता के तख्तनशीन न हो पाने के कुछ महत्वपूर्ण कारण, ऐतिहासिक परिप्रक्ष्य में इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ कि बिना कारण गिनाये लक्ष्मीकांत जी को न तो चैन आयेगा और न विश्वास उत्पन्न होगा। भले ही वे इसके लिए मुझे 'ताजी रात हिन्द' की किसी दफा में धर लें।

पहला कारण: 'ताजी कविता' नाम 'नयी कविता' की तरह पूर्व-विकसित संज्ञा की सहज स्वीकृति न होकर नामकरण की आपाधापी की होड़ में किया गया एक सचेष्ट और कृत्रिम प्रयत्न था जो बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता था।

दूसरा कारण: लोग यह नहीं भुला सके कि मूल्य-बोध के स्तर पर जिस शक्ति और विश्वास के साथ 'नयी कविता के प्रतिमान' के लेखक ने 'नयी कविता' की वकालत की थी उसका अंश मात्र भी वह ताजी कविता को नहीं दे सका। अवसरवादी मनोवृत्ति भी प्रतिपादन में स्पष्ट झलकती रही।

तीसरा कारण: 'नयी कविता' के संयुक्तांक में प्रकाशित आत्मविश्लेषण की ईमानदार कोशिश और शंभूनाथ सिंह आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट 'स्वयं को निरन्तर परिवर्तित करते रहने की अद्भुत शक्ति' और 'स्थायी क्रान्ति' के लक्षणों की उपेक्षा की गयी है। यही नहीं स्वयं 'क ख ग' के चौथे अंक में संगमलाल पाण्डे द्वारा 'नयी कविता की विविधता को उसकी सम्पत्ति' मानते हुए उसके भावी-विकास की दिशा का जो विचारपूर्ण संकेत किया गया है, उसे भी उपेक्षित कर दिया गया। 'अभिजात' के सम्बन्ध में भी उनका मत वर्मा जी के मत के विपरीत और अधिक संगत दिखायी देता है।

चौथा कारणः लक्ष्मीकांत वर्मा ही नहीं 'शरारतपूर्ण यह संयोजन' के अन्य सभी सदस्य, कवि, परिचय-प्रस्तुतकर्ता तथा सह-सम्पादक इत्यादि अनेक रूपों में 'नयी कविता' से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रह चुके हैं। मन, वचन और कर्म सभी से, परम बौद्धिक होते हुए भी, उन्होंने उस आन्दोलन से अपने को पूरी तरह विच्छिन्न करने से पहले, अधपकी स्थिति में ही हाथ से खिचड़ी अलग निकाल कर खाने या धार के बीचो-बीच नाव से उतर जाने का उपक्रम किया। परिणाम हाथ जलाने और धारोधार जाने के अतिरिक्त और क्या होता।

पाँचवाँ कारण: 'क ख ग' जिस उद्देश्य एवं जिस स्वरूप को लेकर चला था उसमें मूलतः कविता का कहीं कोई स्थान नहीं था। उसके किसी आन्दोलन को चला सकने की क्षमता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ताजी कविता के समर्थन में प्रवर्तक इसीलिए अकेला पड़ गया और किसी से भी उसे सक्रिय समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।

छठा कारण: ताजी कविता के नाम पर लेख के साथ जो कविताएँ छापी गयीं वे सामान्य काव्य-प्रेमी को ताजेपन की स्वल्प प्रतीति कराने में भी असमर्थ रहीं, व्यापक प्रभाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आगे के अंको में भी जो कुछ छपा इसमें कुछ दम-खम नहीं था। भूखी पीढ़ी और बीटनिको से भिन्न मार्ग बनाने की उद्घोषणा तथ कुछ-कुछ उन्हीं के अनुवर्तन की द्योतक पंक्तियों 'प्यार शब्द घिसते-घिसते चपटा हो गया है। अब हमारी समझ में सहवास आता है' को मुख-पृष्ठ पर विज्ञापित करना, यह भूलते हुए कि उनकी लेखिका ममता अग्रवाल 'प्रारंभ' में 'नपे-तुले प्यार से' पहले ही 'त्राण' पा चुकी हैं, पिष्ट-पेषण ही नहीं, जूठन बटोरने जैसा दिखायी दिया।

सातवाँ कारण: मुद्राराक्षस की एब्सर्डिटी नं0 4 और 3 छापते हुए उनके साथ कवि के पत्र की पंक्ति' 'मेरी नयी और मेरे संतोष की कृतियाँ यही हैं' छापना एक प्रकार से उसके प्रति सम्पादकीय अविश्वास प्रकट करता है। इसके विपरीत अगले अंक में सर्वेश्वर की पाँच कविताएँ, बिना उनके व्यंग्यात्मक पत्र के सही उद्देश्य का हवाला दिए, 'ताजी कविताएँ' छाप देना 'शरारत' तो प्रकट करता है पर इससे जो 'सह-संयोजन' हुआ वह अन्दर से बिल्कुल खोखला और आरोपित था।

आठवाँ कारण: युवा पीढ़ी अपनी वकालत स्वयं करना पसंद करती है। बुजुर्ग श्वेतकेश का, उसकी सहमति के बिना नया आन्दोलन चलाने की झोंक में, खुद-ब-खुद उसकी ओर बोलना लगना अब कतई पसंद नहीं किया जाता है, इस ज्वलन्त सत्य को नजर अन्दाज कर दिया गया। सात की जगह आठ कारण हो गये, अब बस।

अकविता और अ-अकविता

'एंटी कविता' के अर्थ में अकविता का प्रयोग 'प्रारंभ' और 'अभिव्यक्ति' में किस प्रकार किया गया इसका परिचय उसके पूर्वरूप 'अभिनव काव्य' के संदर्भ में दिया जा चुका है। इससे पहले यह शब्द 'नयी कविता' के संयुक्तांक (60-61) में कविता की विशेषताओं से रहित अग्राह्य रचना के अर्थ में प्रयुक्त किया जा चुका था, पर अकविता का वह अर्थ इस नये अर्थ से सर्वथा भिन्न था। अपने मूल प्रेरक अभिधान 'एंटी पोएट्री' या एंटी कविता' से अपना पल्ला छुड़ाकर, क्योंकि 'अर्थ' 3 में श्याम परमार ने अकविता को 'कविता-विरोधी (एण्टी) कविता नहीं बताया है और उसे अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता' कहा है, तथा एक लघु पत्रिका का सहारा लेकर 'अकविता' कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद सन् '65 में कुछ नये सहयोगियों की शक्ति और श्याम परमार की प्रमुखता के साथ पुनः सामने आयी। प्रस्तावकों में नयी पीढ़ी के अतुल, विमल आदि के साथ पुरानी पीढ़ी के गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल के नाम भी छपे दिखायी दिये। 'संकेत' में कहा गया- नये कवि ने जिस बृहत्तर 'परिवेश में नवीन काव्य-रचना के विविध प्रयोग किये हैं, उनका दिग्दर्शन

कराना ही हमारा अभीष्ट है। साथ ही 'परिवर्तित सौन्दर्य-बोध' के कारण 'पिछली परम्पराओं को नकारते हुए' 'सम्पूर्णतया पृथक् मार्ग' की खोज में रति प्रदर्शित की गयी। इस पहले अंक में मुद्राराक्षस भी साथ दिखायी दिये जो बाद में 'अकविता' के घोषित विरोधी हो गये। उनकी दो कविताएँ, जो अर्थवत्ता में 'ताजी कविता' के नाम पर छापी गयीं एब्सर्डिटियों से भी दो कदम आगे थीं, अकविता के इसी पहले अंक में छपीं। 'अकविता' 'नयी कविता' के बाद आर्विभूत अन्य कविता-संज्ञाओं की अपेक्षा कुछ अधिक स्वीकृति पा सकी और उसके विषय में अनेक लेख ही नहीं, विशेषांक भी प्रकाशित हुए किन्तु दृष्टिकोण की अस्थिरता, प्रदर्शनवादिता और बीटनिकों के प्रभाव को नकारने-स्वीकारने की अन्तर्विरोधी एवं संशयग्रस्त मनःस्थिति के कारण उसका प्रभाव भी गहरा होने के स्थान पर बिखर गया, यहाँ तक कि समाचार-पत्रों में कुछ लोगों ने उसकी अकाल मृत्यु की घोषणा भी कर दी है तथा और नाम सामने आ गये हैं। डेढ़ साल के भीतर ही उसके 'चयन' सम्पादक श्याम परमार को उसके भविष्य के विषय में 'सम्पाती दम्भ' छोड़कर यह लिखने की आवश्यकता आ पड़ी कि अकविता कोई आन्दोलन नहीं है और वह अगर 'अ-कविता' हो जाए तो उससे अकविता को प्रसन्नता होगी।' उसमें 'लय नहीं है', 'अनगढ़ता' है, 'उखड़ापन' है आदि आदि (द्र0 'युयुत्सा', दिसम्बर '66 का अंक, अन्तिम पृष्ठ)। 'लहर' के कवितांक पूर्वार्ध में 'प्रतिबद्ध कविता' का सवाल उठाते हुए परमानंद श्रीवास्तव ने अकविता के आन्दोलन तथा उससे सम्बद्ध भूखी-पीढ़ी, बीट आदि सबको 'प्रतिबद्धता' के मूल प्रकृति से ही अलग बताया है। उनके अनुसार प्रतिबद्ध कविता का विकास आज की निर्मम अमानवीय स्थिति साक्षात्कार की दिशा में हुआ है। अकविता के विषय में एक अन्य मत भी दृष्टव्य है। सकलदीप सिंह ने 'सचेतन कहानी-बनाम अकविता' में अपनी धारणा व्यक्त की है कि 'खासकर' अकविता के नारे देने वाले तो और पिछड़ी कविताएँ लिखते हैं। (द्र0 नयी धारा अपील, '67) कुमार विमल के अनुसार 'परिवेश के प्रति निष्क्रिय होकर' अकविता का कवि 'एक गैर जिम्मेदार आदमी हो जाता है'। युयुत्सा, भाग 67। 'भयो कुछ और होनहार लागे दिखरान'। निषेध काव्य का निषेध बहुत ही कम समय से आरंभ हो गया।

अकविता को भाषा और शब्दार्थ की समस्या के प्रति भी कुछ कहना पड़ा क्योंकि "उसके 'अभिप्राय' अलग हैं और 'मुहावरा' भी बदला हुआ है" जैसी स्थापना 'शब्दों को परम्परागत संप्रेषण से मुक्त करने की दिशा में' प्रवृत्त होते हुए, बिना भाषा की समस्या को उठाये, की नहीं जा सकती थी। फिर मुद्राराक्षस के असम्बद्ध अर्थ विहित-अक्षर-पुंजों को भी कविता कहने की धृष्टता वह कर ही चुकी थी। माचवे जी ने यद्यपि लिख दिया है कि 'शब्द अर्थ से दूर हो गये' तथापि कविता लिखना बन्द करने की सलाह उन्होंने न स्वयं को दी, न औरों को। यह भी नहीं बताया की यह दूरी कितने मील की है।

मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि निषेधात्मक वृत्ति की चरम परिणित आत्मनिषेध या आत्महत्या में होती है और कविता के लिए अर्थ-साहित्य की बात उससे कम नहीं है, परन्तु मेरे आगे यह भी स्पष्ट है कि छंद की सीमाओं का अतिक्रमण करने के बाद अर्थ की परिधि को तोड़ना ही कविता के अगले आन्दोलन का सही आधार हो सकता है। लेकिन सवाल यह है कि क्या 'अकविता' ने वास्तव में इसे तोड़ पाया। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार तो उसने अपने पाठकों को अब तक यही समझा पाया कि शंकराचार्य और शेखचिल्ली में कोई अंतर नहीं है। अर्थ तो अर्थ, जिस विद्रोह को अकवितावादी 'मनमानी प्रकृति मानकर त्याज्य समझते हैं, रामदशरथ मिश्र की दृष्टि में वे उससे स्वयं मुक्त नहीं हो पाये हैं। 'सत्य का अनासक्त द्रष्टा' बनना तो दूर की बात है। मिश्र जी का निष्कर्ष है कि 'साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता हैं, वह एकाएक दिखने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकवितावालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता नाम दे दिया, किन्तु किसी मौलिक आधार पर अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। उनके पास कोई मौलिक दृष्टि नहीं है, इसलिए अकविता के नाम पर या तो कविता छापते हैं या घटिया कविता। (द्र0 धर्मयुग, 4 दिसम्बर 1966, 0580) दिल्ली में रहकर भी निर्भीक भाव से वह इतनी स्पष्ट बात कह सके, इस पर आश्चर्य न करके मैं उनके साहस की सराहना ही करूँगा। 'चिन्तना' 1 में राजेन्द्रप्रसाद सिंह ने 'आज की कविता एक वक्तव्य' लिख कर रामदशरथ मिश्र से सहमति प्रकट की है। मुद्राराक्षस की कविताएँ निरर्थक अपवाद होकर रह गयीं और बजाय इसके कि वे 'अकविता' में प्रमुखता ग्रहण करते, स्वयं 'विकविता' की दिशा में 'वाक आउट' कर गये। जब 'अकविता' और 'विकविता' में भी 'कविता' शब्द से पीछा नहीं छूट पाया तो 'अविता' और 'विकता' जैसे नामकरण की कल्पना की जाने लगी, (द्र0 उत्कर्ष, जुलाई '66)। देवेन्द्र उपाध्याय ने केवल अर्द्ध सत्य पहचाना कि 'जो भी नया वाद होता है उसके साथ मुद्रा भाई होते हैं।' उन्होंने यह नहीं देखा कि वे पूर्ववर्ती 'वाद' को 'विवाद' का रूप देकर घर के भेदी की तरह लंका ढहाते हुए उसका स्पष्ट विरोध भी कर सकते हैं। 'नव लेखन: नये खतरे' शीर्षक अपने लेख, जो 'लहर' '66 के अगस्त अंक में छपा है, में उन्होंने निर्भीकता के साथ लिखा-पृष्ठ 63 पर।

'अपनी इसी उपेक्षित स्थिति का बोध होने के बाद नयी कविता के व्यवसायी वर्ग ने नये नारे की तलाश शुरू की। अकविता उसे ऐसा ही नारा मिला। डेमगागी वहाँ भी वही है। जो कुछ नारे के रूप में कहा जा रहा है उसमें और उनकी रचनाओं में सामंजस्य कहीं नहीं दिखायी दिया। जो कुछ पुराना था उसी के लिए नयी संज्ञाएँ प्रयुक्त की जाने लगी। बीस साल से नयी कविता जिन बिम्बों को इस्तेमाल करती आ रही है, वही बिम्ब वही संवेदनाएं, वही शब्दावली, वही विषयवस्तु-बस सिर्फ नाम

नया- अकविता। नयी कविता के साथ जिन-जिन लोगों के फैशन से फायदा उठाना चाहा था, वही लोग अकविता के साथ भी फैशन से लाभ उठाने के लिए आये।

आखिरी इशारा खास तौर पर शायद गिरिजाकुमार माथुर की ओर है पर उन्हें तो अकविता ने पहले ही अंक में 'घोंघा' बना कर छोड़ दिया। रमेश गौड़ की बात मानी जाय तो उनके द्वारा स्वयं अंगीकृत 'आउट साइडर' की स्थिति 'जुलूस से निकाल दिये जाने पर आब्जैक्टिव होने की घोषणाएँ करने' की स्थिति है तथा 'अकविता' में घुस कर यश लूटने का उनका प्रयत्न अब सब की समझ में आ गया है और उन जैसों को अब कोई भविष्य नहीं है।' श्याम परमार ने अकविता-प्रस्तावक माथुर के 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'अस्वीकृति का नावोन्मेष: तारसप्तक से अकविता तक' में व्यक्त की गयी 'तीसरे का विकास चरण की धारणा' का खंडन इस वर्ष 23 अप्रैल के 'धर्मयुग' में छपे अपने लेख 'परम्परा: अर्थगर्भ मौन: 'अकविता' में खुल कर किया है। माथुर साहब का कहना है कि अकविता ही अस्वीकृत कविता है और अकविता नयी कविता से असम्पृक्त नहीं है। परम्परा 'निस्संग और अतर्क्य प्रवृत्ति आदि की चर्चा करते हुए मूल्य-दृष्टि के आधार पर 'अकविता' को 'नयी कविता' से 'अस्म्पृक्त' सिद्ध करने की चेष्टा की तथा पूर्वोक्त 'विकास चरण' वाली माथुरीय दृष्टि को 'अपने आप में विरोधात्मक बताया। उन्हें 'नयी कविता का टूटा हुआ व्यक्तित्व' कहा और 'वर्तमान भी रफ्तार को छूने की बैचेनी' दिखाते हुए उनके द्वारा 'दस पन्द्रह वर्ष पुरानी नयी कविता में 'अकविता या अस्वीकृत काव्यमनः स्थिति के उद्धारण खोजने की चेष्टा की तीव्र भर्त्सना की। प्रस्तावक और सम्पादक के बीच का यह दृष्टि-द्वन्द्व 'बाँह छुड़ाये जात हो' का ठीक उल्टा दिखायी देता है और इसलिए पर्याप्त मनोरंजक भी प्रतीत होता है। चौंकने वाली फूहड़ता, अशिष्टता, प्रकृत दैहिक क्रियाओं की यान्त्रिक व्याख्या अथवा यौन-क्षेत्र का वीभत्स, कुरूचिपूर्ण, नंगा विवरण, गिरिजाकुमार माथुर की दृष्टि में, न तो अ-रोमानी सिद्धान्तवादिता (एण्टी रोमांटिक स्टैण्ड) है, न किसी काव्यगत नये आयाम का अनावरण ही।' उनका कहना है कि 'नव्यता के नाम पर विकृति स्वीकार स्वीकार नहीं की जा सकती। माना कि अकविता के सम्पादकों ने स्वयं इस बीटनिक मनोवृत्ति मनोवृत्ति का विरोध किया है, जैसा पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है, परन्तु अकविता के कवि यौन-शब्दावली के अतिरेकमय आकर्षण से ऊपर नहीं उठ सके। भूखे-प्यासे से अपने को अलग करने वाले श्याम परमार भी 'अकविता' के पहले अंक में 'औरतों के कटे नुचड़े ध्वस्त अंगो पर शिश्न की परिछाइयाँ देखते नजर आते हैं। औरों की तो बात ही क्या है। जिन सतीश जमाली ने 'अकवि' का सम्पादन किया और अकविता में सहयोग दिया उन्होंने ही अपने कविता-संग्रह 'एक और नंगा आदमी' में शवों की लिंग-माला पहनना, टट्टी खाना, पेशाब पीना, 'बूढ़ी औरत की सड़ी योनि पर से मक्खियाँ चुनकर चबाना' आदि क्रियाओं का प्रभावोत्पादन में विशेषता लाने के लिए प्रयत्नपूर्वक समावेश किया है। 'लहर के

कवितांक उत्तरार्ध में जगदीश चतुर्वेदी ने 'गैंडे से लेकर 'मगरमच्छ' तक लगभग आधे दर्जन प्रतीकों के नाम गिनाये जिनमें सभी जीवन-जन्तु है। लगता है अकविता का इनसे विशेष संबंध है। 'साहित्यिकी' की प्रथम वंध्या-संध्या में 'अकविता' के नाम पर जो कुछ सुनाया गया उसका विवरण पढ़कर ही यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पादकों का बीटनिक प्रभाव से अपने को अलग कहने का यत्न दिखावटी और ऊपरी ही था। 'दिनमान' के अनुसार वहाँ पिछले बीस वर्षों के इतिहास में कभी इतना विकृत, उच्छृंखल अर्थहीन और जघन्य शब्द-विस्फोट घटित नहीं हुआ। सभापति प्रयाग नारायण त्रिपाठी की बैचारगी कल्पनीय है। उसका यह भी कहना कि 'सारा आयोजन नयी कविता के इर्दगिर्द चक्कर काटा रहा था।' इससे यही प्रतीत होता है 'नयी कविता' को स्थानान्तरित करने के अपने सजग प्रयत्न में 'अकविता' अपने प्रवर्तन-केन्द्र में ही असफल सिद्ध हुई और लोगों में उसके प्रति आकर्षण बढ़ने के स्थान पर जुगुप्सा ही बढ़ी। अजित कुमार को तो यहाँ तक लगा कि वहाँ कविता के साथ जो कुछ हुआ वह 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' से कम नहीं था यों यह असंभव नहीं है कि 'नयी कविता', 'नवगीत' और 'अकविता' की मृत्यु घोषित कर देने के बाद भी इस 'जादूगरनी' की लाश मर्सियाबाज़ों के हाथ लगी ही न हो। मैं अजित भाई की इस नाटकीय कल्पना का साझीदार बन कर उनकी मौलिकता की दाद देना चाहता हूँ। (द्र0 धर्मयुग 21, मई' 67)। बहस, सुना है, इस बात पर ज्यादा हुई कि साठोत्तरी कविता, साठ के पहले की यानी छठें दशक की कविता से एकदम अलग है अथवा उसका विस्तार, गोया कविता के विकास में 'शून्य' का ही सबसे अधिक महत्व हो।

अकविता 'साइकिक शार्टहैण्ड' हो सकती है पर वह 'लिटरेरी शार्टकट' नहीं हो सकती; वह क्या कोई भी स्वनामधन्य कविता बिना प्रभाव की अनुकूलता उत्पन्न किये युगमानस पर अपनी छाप नहीं छोड़ सकती। यदि 'अकविता' संवेद्य काव्य नहीं है तो वह उसी अर्थ में 'अकविता' हो सकती है जिस अर्थ में नयी कविता के संयुक्तांक में इस शब्द का प्रयोग किया गया था। 'कथ्य के प्रकाशन को प्रयोजनीय' मानने के बाद अभिव्यक्ति न तो अर्थ से बहुत दूर जा सकती है और न संवेदना से, भले ही इसका दावा किया जाये। विशेषतः यौन शब्द तो अपना प्रभाव पूर्व-प्रयोग की परम्परा के कारण ही इतना अधिक रखते हैं कि बहुधा वे गाली बन जाते हैं।

अस्वीकृत कविता

यद्यपि गिरजाकुमार माथुर ने तीसरे चरण के प्रसंग में 'अस्वीकृत कविता या अकविता' जैसा प्रयोग किया है और फलस्वरूप एक प्रवक्ता द्वारा 'नयी कविता का टूटा व्यक्तित्व' जैसी उपाधि पायी तथापि वस्तु स्थिति को देखने में यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अकविता' से 'अस्वीकृत कविता' भिन्न है तथा दोनों सम्बद्ध कवि एवं उनकी आधारभूत विचारधारा भी एक नहीं है। दोनों को पर्याय

मानना भ्रामक और अवास्तविक है। यह दूसरी बात है कि कविताओं में यौन-प्रवृत्तिपरक साम्य कहीं-कहीं लक्षित हा जाये पर उससे दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती।

'अस्वीकृत कविता' की बात करने वाले प्रमुख कवि हैं, श्रीराम शुक्ल जिन्होंने 'उत्कर्ष' (जुलाई, '66) में उसके साथ 'सत्याश्रित प्रश्न-चिह्न' लगाकर टिप्पणी लिखी और 'एक लम्बी अस्वीकृत कविता' मरी हुई औरत के साथ संभोग' शीर्षक से प्रकाशित की जिसे 'कविता की खोज में एक कविता' कहा। उसके प्रारंभ में ही कूट शब्दावली अपनाते हुए लिखा गया है 'मैं तीन और पाँच के बीच सात के साथ खो गया हूँ।' सात शब्द से कवि को खास लगाव है और वह कहता है 'संभोग का अनुभव ही पर्याप्त है सात महाकाव्य लिखे जाने के लिए।' उसे 'पंचमकार' फिर याद आने लगे हैं और शब्दार्थ की समस्या का निदान व्यंग्यात्मक रीति से उसने जिस भावी मनोभूमि पर किया है वह द्रष्टव्य है—

शब्द मिलेंगे सिर्फ आर्थो के आलिंगन में

और तमाम कवि मिलेंगे सिर्फ लिंगन में।

अस्वीकृति के प्रवक्ता-कवि की यह विवशता है कि उसे धोखा-धड़ी वाली नकली कविता 'असली कविता' के रूप में स्वीकार करनी पड़ती है। वह मानता है कि 'मैं ओर मेरे समकालीन कवि कविता नहीं लिखते, कविता का धोख खड़ा करते हैं।' इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बाद उपर्युक्त कविता की चर्चा करने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं रह जाता। हाँ, विचारों की ओर दृष्टिपात् अवश्य किया जा सकता है। आवरण-पृष्ठ के भीतर की ओर छपी सूचना के अनुसार इतना याद रखना आवश्यक है कि अतियथार्थवादी आन्दोलन के प्रवर्तक, तर्क य विवेक का नियंत्रण कभी स्वीकार न करने वाले आन्द्रेब्रेन्तों का मृत्यु- वर्ष ही अस्वीकृत कविता का जन्म वर्ष है। अस्वीकृत कवि 'नापसन्द व्यवस्थाओं को बदलने के लिए' व्यग्र है। हल न प्रस्तुत कर सके तो भी वह 'उन पर प्रश्न-चिन्ह लगाकर बेसुध लोगों का ध्यान आकर्षित करना' अपना कर्तव्य समझता है। वह अपने को 'सामाजिक-सांस्कृतिक स्वभाव वाले लक्ष्यों से' असम्बद्ध नहीं मानता। संसार की 'पुनर्रचना' में उसका विश्वास है। अकवि की तरह वह बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं रहना चाहता। 'अस्वीकृत कवि केवल तटस्थ छायांकन को ही अच्छे आस्वाद के अनुकूल नहीं मानता, वह अपनी कविता में अपने क्रोध और आक्रोश को भी आसानी से व्यक्त कर सकता है। वह 'नकली नये कवियों' की तरह प्रश्नों से विमुख नहीं होना चाहता। प्रकारान्तर से वह अपने को 'असली नया कवि' मानता है। उसकी दृष्टि में 'अस्वीकृत कविता अपने प्रश्नों के सार निरन्तर बहिमान है।' 'नैतिकता' और 'श्लीलता' पर भी इसीलिए वह प्रश्न-चिन्ह लगाना अपना दायित्व मानता है। 'राजनीति और लोकतन्त्र' भी उसके प्रश्नों की परिधि से बाहर नहीं है। असत्य के विरूद्ध वह सत्याश्रित होना चाहता है।

अकविता की तरह वह अन्तर्विरोधी की कविता नहीं बतायी गयी है वरन् उन्हें समाप्त करने का संकल्प रखने वाली कविता के रूप में व्याख्यायित की गयी है। वह प्रश्नों को 'शिश्न मुंड' मात्र नहीं समझती। 'अर्थ' 3 (मई, 1966) में 'अस्वीकृत कविता' को मुख पृष्ठ पर विशेष महत्व देकर छापा गया है तथा उसे 'अकविता' से पृथक् रखकर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा करने का प्रयत्न किया गया है। विमल पाण्डेय द्वारा उसका वैचारिक पक्ष भी अलग से प्रस्तुत किया गया है जो बहुत अंशों में अकविता की मान्यताओं का विरोध है। उनके विचार से 'कविता नहीं जैसा कहना कविता की विधा को ही समाप्त करना है। कुछ विचित्र बातें भी कही गयी है जैसे 'आज अस्वीकृति पूर्ववर्तियों के प्रति न होकर शायद आगामियों के प्रति है।..... आज की अस्वीकृति नव निर्माण के प्रति है, नव निर्माण के लिए नहीं।' संभाव्य को अस्वीकृत करने का विचार बहुत ही नायाब दिखायी देता है। 'अस्वीकृत' का एक दूसरे ढंग का प्रयोग भी किया गया है, तथा 'रूढ़िग्रस्त सामाजिकता या सौजन्य के कारण अनुभव करते हुए भी हम जिन्हें कह सकने में असमर्थ हैं, अस्वीकृत हैं। यहाँ अस्वीकृत शक्ति और संकल्प की द्योतक न होकर असमर्थता और विवशता का द्योतन करती दिखायी देती है। बहरहाल माना गया है कि 'सत्य को सत्य न कह पाने की विषमता कभी न कभी अवरोध तोड़ कर बह निकलती है' और तभी जन्म होता है अस्वीकृत कविता का। ...... वह 'किसी नये शिल्प प्रयोग या अहम् को सन्तुष्ट करने के लिए सामान्य से कुछ अलग हट कर अपने को विशिष्ट प्रदर्शित करने वाला कोई नया नारा नहीं अपितु प्रस्तुत युग में व्याप्त, यर्थाथ होते हुए भी अस्वीकृत विशिष्ट प्रवृत्तियों, संवेगों, स्थितियों, मूल्यों, असंगतियों और मूड की सम्प्रेषक कविता है।'......अस्वीकृत रहने के बावजूद तथ्य तो तथ्य ही है। अस्वीकृत कविता उसी को प्रस्तुत करती है।' इस पूरे वक्तव्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अस्वीकृत कविता' का तात्पर्य है 'अस्वीकृत तथ्यों या सत्यों की कविता।' वह स्वयं अस्वीकृत बनी रहे या प्रतिष्ठित होना न चाहे ऐसा कोई भाव नहीं है। अकविता और ताजी कविता से उसकी मान्यता में इसलिए भी अन्तर दिखायी देता है। 'अर्थ' के अगले अंक में 'आयातित बौद्धिकता का विरोध, 'पाजिटिव की तलाश' के साथ मूल्यबोध के प्रति सजगता और 'धनात्मक अस्वीकृति' की युयुत्सु के साथ संगति प्रदर्शित की गयी है।

एक अन्य प्रवक्ता शरद के अनुसार अस्वीकृत कविता 'शार्टमूड' की कविता है, जिसमें हम अपने को बिना पूर्व तर्क और विवेक के सहज ही सम्पृक्त पाते हैं।' उनकी समझ में सबसे बड़ी रूढ़ि 'तर्क और विवेक' ही हैं और इन्हीं के प्रति यह अस्वीकृति है जो प्रतिवर्ती क्रिया है और 'शार्टमूड' की 'क्रिया' भी। मेरे विचार से तर्क और विवेक खोकर केवल प्रतिवर्ती क्रियाओं के आश्रित हो जाना मानवधर्मी होने के स्थान पर पशुधर्मी हो जाना है। शरद के यह विचार न तो अस्वीकृत कविता के पूर्व प्रवक्ता श्रीराम शुक्ल के विचारों से मिलते हैं और न इनमें किसी प्रकार की गहरी सांस्कृतिक पकड़

दिखायी देती है। मनुष्य का सारा कार्यकलाप और अन्तर्जीवन केवल प्रतिवर्ती क्रियाओं के ही आश्रित नहीं होता है। उसमें उनसे ऊपर उठकर अपने को देखने की शक्ति है और इसीलिए वह उन्हें मर्यादित भी कर लेता है।

'अस्वीकृति' की चरम परिणित होती है मुद्राराक्षस की उन अति साहसिक एवं मनोरंजक स्थापनाओं द्वारा जिन्हें लेखन की कुछ 'अस्वीकृत स्वीकृतियाँ', जैसी विरोधाभास मूलक संज्ञा दी गयी है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य ही नहीं ध्यातव्य भी है और यदि कोई उन्हें पढ़ते ही अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जाये तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगा। इन विचारों के कुछ बीज लेखक की 'साहित्य समीक्षा' में मिलते अवश्य है, पर इतना विकास तो अभूतपूर्व ही है।

(क) 1. मैं इस बात में यकीन नहीं करता कि मानव एक बुद्धिमान प्राणी है। बुद्धिमान सिर्फ कुछ ही होते हैं, बाकी सभी सिर्फ प्राणी होते हैं। अगर बाकी सब मूर्ख नहीं होगे तो लेखक का होना निरर्थक हो जायेगा। बड़ा लेखक वही है जिसके होने के सामने बाकी सभी का होना सिर्फ मूर्खता साबित हो।

2.लेखक अगर पाठकों के लिए लिखता है तो निहायत मूर्खतापूर्ण चीज लिखनी होगी। गधे को शामी कबाब नहीं खिलाया जा सकता उसे घास ही खिलानी होगी।

3. लेखक वही जो चाहे अपने लिए हो या दूसरों के लिए केवल मूर्खतापूर्ण चीजें ही लिखे।

पहले वाक्य की तुलना कीजिए लेखक के ही अन्यत्र प्रकाशित वाक्य से 'वर्तमान मानव पहले जमाने की अपेक्षा अधिक बुद्धि-प्रखर है।' (कविताएँ जून '62 पृ0 22)। इसके बाद किसकी इच्छा नहीं होगी कि वह मुद्रा जी को 'वही लेखक' मान ले।

(ग) 1. ...परम्परा को मैं इसलिए नहीं मानता कि परम्परा कभी थी ही नहीं। है सिर्फ वही जो आज है.... उसमें विश्वास करते रहना केवल अंधता है।

2. ....अगर हम यह मान लें कि हमसे और हमारे इस क्षण से पहले कुछ भी नहीं था तो मामला सीधा हो जाता है। - (मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं)

(घ) 1. भाषा बेकार का अथवा फालतू अलंकरण है भाषा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। ....भाषा सिर्फ मूर्खों की मूर्खता का कवच होती है।

2. अगर कहीं झूठ होता है तो उसका नमूना भाषा ही होती है। भाषा से बड़ा झूठ और कहीं नहीं होता। जो घोड़ा शब्द होता है वह दुनिया में कहीं होता भी है ?

स्मरण रहे कि यह सब भाषा में कहा गया है और 'कविताएँ' जून '61 के पृष्ठ 21 पर इसी लेखक ने लिखा था कि 'कलाकार अथवा कवि ऐसी शब्द रचना करता है जो अर्थ की दृष्टि से समग्र तो होती ही है।'

(ड.) लेखन में गंभीरता कुछ भी नहीं होती। जो लेखक गंभीर होने का दावा करते हैं वे सिर्फ गंभीर हो सकते हैं, लेखक नहीं।

2. गंभीरता पराजय का लक्षण होती है। जो गंभीर होता है वह जरूर पराजित होता है। ... जो साहित्यकार कुछ बनाने या स्थापित करने में रूचि लेता है वह लेखक नहीं होता। लेखक वही होता है, जो सिर्फ तोड़ता है और लूटता है। भंजन करता है चाहे शील हो या मूल्य, ऐसी मौलिक 'मुद्राराक्षसी' दिव्य दृष्टि पा जाने के बाद अस्वीकृत कविता को भला कौन स्वीकार नहीं करेगा।

आज की कविता

अस्वीकृत कविता में जैसे 'तर्क और विवेक' को अन्ततः तिलांजलि दे दी गयी वैसी दुर्घटना 'आज की कविता' में घटित नहीं हुई। सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता की स्वीकृति के साथ 'अन्तर संवेगों और व्यापक भावनाओं को व्यापक कैनवेस पर विवेक से अनुशासित करने की बात बलपूर्वक कही गयी और 'आज की कविता' नामक मार्च '66 के एक 'अनियमित प्रकाशन' यानी पत्रक के अन्तिम पृष्ठ पर बिन्दुओं के साथ विज्ञापित भी की गयी। इससे पूर्व 'वातायन' के 'कविता अंक' में 'आज की कविता' शब्द 'आज का गीत' की व्यापक परिणिति के रूप में विशेषतः प्रयुक्त किये जा चुके थे। सम्पादक ने 'अपनी बात' के अन्तर्गत एक सहयोगी के प्रश्नात्मक उत्तर 'आज की कौन सी कविता पर लिखा जाये? का आधार लेकर कविता के अनेक प्रचलित रूपों के प्रति अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया व्यक्त की है। सामाजिक-आर्थिक असमानताओं के कारण जो व्यक्ति सम्बन्ध गौण हो गये हैं उन्हें उबारने का संकल्प करते हुए 'स्वार्थों की कसौटी को अस्वीकारने पर कटिबद्ध 'व्यक्ति' के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित की गयी है। 'आज की कविता ने सम्बन्धों और संभावनाओं के नये आयाम खोजे हैं।' शिल्प-शब्द सामर्थ्य ने अनूठा बौद्धिक स्पर्श दिया है। लिजलिजी भावुकता से बहुत दूर हुई है। यहाँ तक तो किसी पर कोई आरोप किये बिना बात कही गयी पर आगे 'नई कविता' को 'व्यक्ति की सर्जना शक्ति में अविश्वास प्रकट करने वाली' कह कर उसे 'सम्पूर्णता के साथ अस्वीकार' कर दिया गया है। नयी कविता ने ऐसा कहाँ किया है या वह कौन सी नयी कविता है जो ऐसा करती है यह बताने की जरूरत नहीं समझी गयी। 'आज की कविता' नहीं मानती कि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, सम्बन्धों से कट गया है या निपट वैयक्तिक होकर जीने में ही जीवन की सार्थकता है ....।' 'अतीत के व्यामोह' से व्यक्ति को मुक्त करना अपने पिछड़ेपन को 'सार्थक अनुभव' और नयी पीढ़ी की दृष्टि को

'भ्रम' कहने वाली 'बूढ़ी पीढ़ी' से उसे बचाना तथा आत्महनन, निराशा और भुभुक्षाओं की आरोपित अभिव्यक्ति से पीछा छुड़ाना भी आज की कविता का लक्ष्य है। उसकी दृष्टि में आधुनिकता के नाम पर 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' एक विकृति भर है। इसी अंक के अंत में 'आज की कविता' के सम्बन्ध में 'दो पत्र' छपे हैं। रणजीत के पत्र में कुछ बातें ऐसी कही गयी हैं जो आधुनिकता के विषय में प्रचलित धारणाओं से भिन्न होने और सर्वथा विपरीत दृष्टिकोण व्यक्त करने के कारण उल्लेखनीय है-

पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों में हर ह्रासशील पर अस्वस्थ प्रवृत्ति को आधुनिक कहने का एक गहरा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र चल रहा है। आधुनिकता के नाम का जो सम्मान लोगों के दिलों में है, उसका बेजा फायदा उठाने के लिए वे अपनी हर मूर्खता और धूर्तता को आधुनिकता के सिक्के से चलाते हैं। आखिर आधुनिकता कोई हवा में से टपकी हुई चीज तो है नहीं कि पहले उनके यहाँ टपक पड़ी और अब हम उसे उधार ले रहे हैं। आधुनिकता को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।'— वातायन, सितम्बर, पृ0 57

यहाँ तक भी 'आज की कविता' एक स्वतन्त्र नामधरी काव्यान्दोलन के रूप में सामने नहीं आयी। केवल एक सजग विचार को दिशा का ही उद्घाटन होता दिखायी दिया। परन्तु, चूँकि वातावरण में नया नाम देकर नया दौर चलाने के बीज काफी तादाद में बिखरे हुए थे, देर नहीं लगे, एक स्वतन्त्र प्रस्तावक वर्ग द्वारा उसके प्रवर्तन में। पूर्वोक्त 'आज की कविता' नामक पत्रक वही चीज है। इसमें दो अन्य प्रस्तावकों के साथ 'वातायन' के प्रधान सम्पादक हरीश भादानी का नाम भी मुद्रित है। श्री हर्ष आदि 'सहयोगी' कवि रूप में समाविष्ट हैं। गीत के 'रागात्मक स्तर' को छोड़कर ऊपर उठते हुए सचल 'वातायन' से 'आज की कविता' ने जन्म लिया और अपना अलग अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए व्यग्र हो उठी। प्रस्तावना में जो विचारधारा सामने रखी गयी वह वातायन के सम्पादकीय का ही परिष्कृत एवं संवर्धित रूप है। उसमें एक ओर आधुनिकता सम्बन्धी रणजीत की धारणा को समाहित कर लिया गया है, दूसरी ओर 'संत्रास' में जीने वाले कवियों के युद्ध की विभीषिका' के पुस्तकीय ज्ञान पर भी सीधा आघात किया गया है। कविता के 'नयी' आदि अनेक प्रचलित अप्रचलित नामों से अपने को पृथक् करते हुए, उसमें व्याप्त कुंठा', तथा अर्थहीनता के अवांछित स्वरों का निर्देश किया गया है। 'अनास्था' और अतिवैयक्तिकता' को पश्चिम **की ही देन बताते हुए कहा गया है कि फ्रांस, अमरीका और ब्रिटेन का यह बुद्धि-विलास अफ्रीका और सारे एशिया में नहीं, केवल भारत में ही प्रवेश पा सका।' जापान और पाकिस्तान की स्थिति** को एकदम भुला दिया गया है पर बात एकदम निस्सार नहीं है। स्वतन्त्रता के डेढ़ दशक बाद भी कल्पना के साकार न हो सकने की **विवशतापरक चेतना से ग्रस्त 'हिन्दी कवि के मानस पर पश्चिम के हारे हुए लोगों को प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी कविता भी यान्त्रिकता को आरोपित कर अपने आप को बखेरने लगी, शिल्प, बिम्बों-**

प्रतीकों के साँचे कविता की स्वाभाविकता को जकड़ते गये और साहित्य भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकथाविकथा बनकर यौन अतृप्तियों और जड़ आक्रोशों की अभिव्यक्ति के रूप में लिखा जाता रहा और आज भी लिखा जा रहा है।' वस्तुस्थिति की इस व्याख्या में जो सत्य निहित है उससे इन्कार नहीं किय जा सकता। 'आज की कविता' ने कम से कम वैचारिक स्तर पर एक दूसरा पहलू सामने रखा जिसकी ओर और लोगों का भी ध्यान गया था, परन्तु उसे काव्यान्दोलन के संदर्भ में कम सामने लाया जा सका। 'नयी कविता' ने 'आधुनिकता' पर जो 'परिचर्चा' में प्रकाशित की थी (द्र0 अंक 7) उसमें यह पक्ष भी उभारा गया था। इस बात पर स्पष्टतया आग्रह किया गया था कि बाह्य प्रभाव को अपने देश की परिस्थिति और परम्परा की सापेक्षता में ग्रहण करना ही उचित है। और यह भी कि मानवीय संवेदना के सांस्कृतिक पक्ष की उपेक्षा करके आधुनिकता लाना निरर्थक बात है। प्रस्तावकों ने बहुत विचार-श्रम करके समसामयिक जीवन के निम्नलिखित तीन स्तर निर्दिष्ट किये हैं जो स्थूल रूप में यों ही सहज ग्राह्य हैं-

एक, जिसका सम्पूर्ण परिवेश पाश्चात्य है।

दूसरा, जिसका बाहरी आवरण पाश्चात्य और भीतर परम्परा की दृष्टि से

कुछ-कुछ प्रगतिशील है।

तीसरा, जो पूर्णरूप से परम्परागत विश्वासों-अन्धविश्वासों से ग्रस्त।

इसके बाद कहा गया है कि 'पश्चिम की जीवन पद्धति तो एक सी है।' यह माना जा सकता है कि भारत जैसा स्तर-भेद पाश्चात्य देशों में नहीं है पर यह कहना कि समग्र रूप से पश्चिम की जीवन-पद्धति एक सी है, वास्तविक न होकर काल्पनिक या उसी प्रकार का पुस्तकीय ज्ञान है जैसा संत्रासियों का ज्ञान।

प्रस्तावकों के अनुसार सन '60 के बाद की हिन्दी कवितायें 'विदेशी अजनबीपन' 'सायासित अनास्था' और 'ओढ़ी हुई कुंठा' के विपरीत 'जीवन स्तरों की विभिन्नता के खिलाफ एक सक्रिय विरोध और स्वाबलम्बन की आकांक्षा और नये व्यक्ति सम्बन्धों में सामाजिकता की खोज' की ध्वनियाँ सुनायी देने लगी हैं। इन ध्वनियों के अस्तित्व का साक्ष्य मैं भी दे सकता हूँ पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि सन् '60से ही ऐसा हुआ है। 'नयी कविता' ने सन् '54 से ही जो विचार सामने रखे उनमें आस्था और मानवीय व्यक्तित्व के प्रति एक विश्वास निहित रहा है। नयी कविता वस्तुतः नये व्यक्ति सम्बन्धों और नयी सामाजिक चेतना की ही कविता है जिसे नये मनुष्य के आर्विभाव के रूप में ग्रहण किया गया है। हाँ उसने 'इकांइयात्मक' जैसे विशेषण का प्रयोग अवश्य नहीं किया है।

'आज की कविता' की दो एक विज्ञापित विशेषताएँ ओर दृष्टव्य हैं—

'आज की कविता अर्थ की लेन-देन की समाप्ति के साथ व्यक्ति सम्बन्धों में होती रिक्तता को भरना चाहती है।'

'आज की कविता व्यक्ति व्यक्ति का कटाव, उसका दौर्बल्य स्वीकारने को तैयार नहीं, वह तो उन शब्दों-अर्थों की खोज में है जो व्यक्ति को नये सामाजिक दायित्व दें।.... वह आंशिक आधुनिकता की प्रतीति के नाम पर करोड़-करोड़ लोगों से, उनकी स्थितियों पीड़ाओं से कटने को तैयार नहीं है।.... दासता के जुए को उतार कर वह अपनी आधुनिकता का निर्माण करने में लगी है।'

जाहिर है कि इतनी अच्छी-अच्छी बातों से कैसे इनकार किया जा सकता है। करोड़ों से अपने को सम्पृक्त करने या बनाये रखने की भावना कहीं तो 'अछूत' सिद्ध नहीं हुई, कोई तो 'विवेक' का नामलेवा दिखायी दिया पर सवाल यही है कि 'आज की कविता' भी क्यों नहीं चल पायी?

नव प्रगतिवाद कविता या नव प्रगतिशील कविता

प्रगतिवादी खेमें ने उखड़ते-उखड़ते भी कई बार जमने की कोशिश की और कविता के क्षेत्र में, जहाँ वह सीधी लड़ाई लड़ने में नाकामयाब साबित हुआ, उसे 'गुरिल्ला वारफेयर' का तरीका अपनाया। कविता की कई किस्मों में उसकी घुसपैठ इधर-उधर, दायें-बांये, होती रही मगर मोर्चा कुछ ठीक हो नहीं सका। 'नयी कविता' पर उसकी ओर से पहला हमला 'काव्य-धारा' निकाल कर 'जनि चूकै चैहान' ने किया था। उसकी असफलता के बाद 'संकेतों' से कहा-सुनी होती रही। कुछ और पत्र-पत्रिकाएँ ताकत आजमाती रहीं, मगर कुछ हो नहीं सका। मई '65 में प्रकाशित 'संदर्भ' का प्रतिबद्धता विशेषांक ऐसा ही प्रयत्न था। 'नयी कविता' का दौर शुरू में इतना तेज था कि खूँटे उखड़े तो उखड़ ही गये। लेकिन पिछाली जुझारू भाषा के शब्द अब भी कभी-कभी छपे दिखायी दे जाते हैं। अगस्त '66 की 'रूपाम्बरा' के 'अधुनातन कविता अंक' में डॉ0 माहेश्वर ने लिखा—

'सर्वेश्वर और श्रीकान्त जैसे अज्ञेय के गुर्गों ने समाजवादी चिंतन के विरोध में विघटित होती हुई वायवी व्यक्ति स्तर एवं कोष्ठबद्ध फार्मूलाबाजी वाली, मुमूर्ष नई कविता की सर्वोत्तम उपलब्धि के रूप में मुक्तिबोध की कविता को प्रस्तुत करने की हास्यास्पद कोशिश की। किन्तु इस षड्यन्त्र का पर्दापाश तभी हो जाता है जब कोई साधारण समझ का पाठक 'अँधेरे में' या 'ब्रह्मराक्षस' जैसी कविताओं की तुलना 'आँगन के पार द्वार' की निर्रथक अध्यात्मपरक रोमांस से पूर्ण, छायावाद-छाप (फिर भी पुरस्कृत) कविताओं से करता है।

नव प्रगतिवादी कविता और उसके सर्वाधिक समर्थ स्वर मुक्तिबोध को नई कविता के साथ जोड़ने की साजिश बड़ी हास्यास्पद लगती हैं.....राहों के अन्वेषियों को अपनी नाक के नीचे का जीवन नहीं दीखता....।'

आलोचक महोदय भूल गये कि 'तार सप्तक' में संगृहीत कवि के नाते राहों के अनेक अन्वेषियों में एक मुक्तिबोध भी थे और काफी ऊँची नाक वाले रामविलास शर्मा भी, और दोनों दूसरे संस्करण में भी हैं, बहरहाल, आलोचना तो आलोचना। एक सपाटे में आलोचक से जितना लिया जा सका ले लिया गया, कुछ फालतू आ गया या उलट कर तीर खुद हो ही लग गया तो इसमें चलाने वाला क्या करे। और सुनिए-

नवगीत के अतिरिक्त, नयी-कविता की कोख से जन्मी हुई अन्य कविता प्रवृत्तियाँ वैचारिक दिवालियापन, अक्षमता तथा विघटनवादिता का स्पष्ट प्रमाण पेश करती हैं।

आज जब कोई समसामयिक कविता-प्रवृत्ति एक दशक से ज्यादा पुरानी मान ली जाने के डर से अपने को नयी कविता से नामतः भी सम्बद्ध करने के लिए तैयार नहीं है तो उनके लिए 'कोख से जन्मी' जीवात्माओं की कल्पना, कोख को लजाने जैसी लगती है, पर यह रूपक मैं नहीं रच रहा हूँ इसे तो नव प्रगतिवादी कविता के एक प्रवक्ता ने रचा है। उनके अनुसार 'इन सभी विस्थापित कविता आन्दोलनों के बीच वाद रूप में 'युयुत्सावाद' ही ऐसा है जो नव प्रगतिवादी कविता को एक समर्थ आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास है।' उठान पूरी नहीं हो पायी थी कि 'नव प्रगतिवादी कविता' में अपने निजी आन्दोलनत्मक रूप की संभावना त्याग कर सहसा 'युयुत्सावाद' के आगे घुटने टेक दिये और युयुत्सावाद का क्या हुआ, यह देखा ही जा चुका है। अब सुना है, शलम 'युयुत्सा' से अलग हो गये हैं और वह बिना सच्चे युयुत्सु के ही निकल रही है।

'प्रगतिवाद' के प्रति जो पूर्वाग्रह एवं तीखी प्रतिक्रियाएँ उसके विजड़ित और दलीय रूप के कारण बहुतों के मन में घर कर गयी है उन्हें अवरोध बनने से बचाने के लिए 'प्रगतिशील' शब्द का व्यवहार कुछ उदार दृष्टि अपनाते हुए नवलकिशोर ने कविता (जनवरी '66) में, अर्थात प्रगतिवादी कविता के पूर्वनिर्दिष्ट आत्मसमर्पण के पहले, एक प्रयत्न 'नव प्रगतिशील काव्य' को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से किया था जो वास्तविकता के प्रति अधिक सजगता प्रदर्शित करता है। प्रस्तोता ने पहले ही वाक्य में मान लिया है कि 'प्रगतिवाद ने हिन्दी को श्रेष्ठ काव्य नहीं दिया' यों उसने 'उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह' की चेतना उभारने का उसको श्रेय भी दिया है। अपने विचार को लेखक ने इस रूप में सामने रखा है -

नव प्रगतिशील शब्द का प्रयोग मैं नयी कविता के विरोधी काव्य-साम्प्रदाय के लिये नहीं कर रहा हूँ, नयी कविता के अन्तर्गत ही उन कवियों की रचनाओं को इस संज्ञा से अभिहित करना आवश्यक है, जिन्होंने पीड़ित मानवता के पक्ष और मुक्तकामी ताकतों के समर्थन की प्रतिबद्धता घोषित या आघोषित रूप से स्वीकार की है।.....इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि नयी कविता ने पहली बार काव्येतर मूल्यों को अपदस्थ कर कला की अपनी भूमि पर कविता को महत्व दिया, इसलिए यह एक व्यापक काव्यान्दोलन था और अब अपनी ही रूढ़ियों के प्रति अस्वीकृति का प्रबल होता भाव नये कवियों की सतत प्रयोग-शीलता का परिचायक है।......नव प्रगतिशील कवि अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवादी की तरह नारेबाजी या पम्फलेट का साहित्य नहीं रचता, वह कविता के अपने जादू का कायल पहले है....लेकिन कविता उसके लिये स्वयं में साध्य नहीं हैं, उसे वह जीवन की वास्तविकता का बेहतर बनाने वाली सांस्कृतिक चेष्टा के रूप में स्वीकार कर चलता है। नव प्रगतिशील कवि किसी राजनीतिक विचारधारा या दलगत निष्ठा का प्रचारक नहीं है, लेकिन वह उस व्यवस्था का उन्मूलन चाहता है जिसके कारण व्यक्ति अभावों की यन्त्रणा भोगता है।

-पृ0 34-35

यही नहीं, 'अमूर्त्त समाज' के स्थान पर 'जागता इंसान' उसका 'आराध्य' है और वह 'साम्राज्यवाद' और 'युद्ध' का अन्त चाहता है, 'जातीय भेद-भाव' की समाप्ति चाहता है जिससे आदमी इस धरती पर खुशहाल जिन्दगी बिता सके। बातें यह भी अच्छी हैं पर 'साम्राज्यवाद' तिब्बत के रास्ते तथा 'युद्ध' चीन के माध्यम से साम्यवाद में विष की तरह पैठता जा रहा है। स्वयं साम्यवादी दर्शन रूस और चीन के द्वन्द्व में टूट कर दो टुकड़े हो गया है और भारत के परमुखापेक्षी प्रगतिवादी लेखक तक दो दलों में बँट गये हैं। ऐसी दशा में वह शब्दावली जो आसानी से दोनों प्रतिस्पर्धियों या प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा अपनायी जा सके, बहुत कुछ निरर्थक हो जाती है। ऊपर से लगता है कि वह व्यापक और गहरे अर्थ को व्यक्त करती है पर चूँकि उसका प्रयोग विवशता और स्वार्थ के कारण अधिक, तथा निष्ठा और विश्वास के कारण कम होता है अतः वह बिना प्रेरक बने ऊपर ही ऊपर निकल जाती है। जहाँ तक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है 'प्रगतिवाद' की अपेक्षा 'प्रगतिशील' शब्द अधिक संगत और उदार दिखायी देता है पर जब तक अपने मूल उत्स 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की सीमाओं और विसंगितियों को, जो इतने समय के अनुभव से परिलक्षित की जा चुकी हैं, उसके प्रयोक्ताओं और प्रवक्ताओं द्वारा खुले तौर पर नकार नहीं दिया जाता तब तक सच्चे अर्थ में 'नव प्रगतिशील आन्दोलन', आन्दोलन कहलाने का हकदार नहीं है। बिना इसके वह किसी भी समय 'प्रच्छन्न प्रगतिवाद' सिद्ध हो सकता है क्योंकि राजनैतिक स्तर पर प्रगतिवादी विचारधारा चाहे दक्षिण हो चाहे वाम, आज भी साम्यवाद की ही अनुवर्ती है यद्यपि उसकी दृष्टि सिद्धान्त-च्युत संकीर्ण एवं

आत्मलक्षी हो चुकी है जिस तरह लोकतंत्रवादी देश उपनिवेशवादी और युद्धकामी बनते जा रहे हैं। उसी तरह साम्यवाद भी व्यवहारतः समाजवादी चेतना का विरोधी हो गया है और सिद्धान्ततः भी वह बीच में दरक गया है। विश्वव्यापी स्तर पर समाजवाद स्वयं वास्तविक एवं अनिवार्य जनतान्त्रिक मूल्यों को आत्मसात् करने की ओर उन्मुख है तो साम्यवाद के सर्वसत्तात्मक अधिनायकवादी रूप से किसी नवचेतनापरक आन्दोलन के प्रेरित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कविता क्या समस्त साहित्य और सभी कलाएँ उसकी दृष्टि में अस्त्रों से अधिक मूल्य नहीं रखती रही है।

स्वाभाविक ही था कि नवल किशोर की टिप्पणी पर कुछ वैसी ही प्रतिक्रिया होती जैसी अनिल कुमार की हुई -

'इधर कुछ समय से राजनीति या किसी प्रकार की पक्षधरता को इंकारने वाला स्वर बराबर मुखर होता जा रहा है। बड़ी प्रगल्भता से यह स्वर जमात जोड़ता जा रहा है। और जहाँ कोई स्वर एकाकी न रह कर जमातजोड़ू बनता है तो उसकी अपनी पक्षधरता स्पष्ट होने लगती है। उसका एक घोषणा-पत्र बनने लगता है।....नवगीत आन्दोलन की तरह कोई नव-प्रगतिशील आन्दोलन अभी साहित्य में ही नहीं। .....मुक्तिबोध को नव प्रगतिशील कहना इसीलिये भ्रमाक है। ...मुक्तिबोध का व्यक्तिगत जीवन तथा 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' निबन्ध पुस्तक में व्यक्त विश्वास उनकी पक्षधरता की गवाही देते हैं। नवलकिशोर जी जिस आधार पर मुक्तिबोध को एक विशेषण चिपकाते हैं वह निराधार है। ....क्या नव प्रगतिशील कवि काव्य-रचना से साम्राज्यवाद, युद्ध और अभावों से पीड़ित मानवता की और स्वयं को मुक्त कर लेगा ? यदि नवलकिशोर जी ऐसा सोचते हैं तो वे एक 'युटोपिया' के शिकार हैं। ....दिशाहीन चिन्तन, लक्ष्यहीन लेखन, राजनीतिरहित दृष्टिकोण की परिणित व्यक्ति की खोज अर्थात् निजी स्वार्थ में होती है।

कविता 5, पृ0 55-56

यह और भी स्वाभाविक था कि टिप्पणी लेखक अपनी स्थापनाओं पर उठायी गयी आपत्तियों का उत्तर देने के लिए कटिबद्ध होता। प्रतिबद्धता के बाद कटिबद्धता का ही सहारा लिया जाना उचित है। हुआ भी वही। 'नव प्रगतिशील कविता' का पक्ष लेकर नवलकिशोर ने 'राजनीतिहीनता की राजनीति' के सवाल पर उठायी गयी आपत्तियों को 'आरोपित' बताया। 'प्रगतिवादी दौर के आगे के प्रगतिशील कवियों की कुछ अपनी विशिष्टताएँ समझायीं और नयी कविता को अतिक्रान्त कर आने वाले एक नये मोड़ की चर्चा करने वालों के रूप में उनकी विशेष स्थिति पर प्रकाश डाला। राजनैतिक दल से असम्बद्ध होने का 'यह अर्थ नहीं कि इनके पास कोई राजनीतिक निष्ठा नहीं है' को स्पष्ट किया। कलागत मूल्यों को प्राथमिकता देना तथा 'प्रचारात्मक मूल्यों' से 'अलांछित रहना उनकी

प्रकृति माना और यह भी साफ कर दिया कि 'निश्चय ही यह प्रगतिशीलता प्रगतिवादी पद्धति की नहीं है।'

नवल जी ने 'नयी कविता' में अन्तर्निहित तत्वों को पहचाना, इसके लिए मैं उनकी आशंसा करता हूँ, किन्तु उन्होंने उसके अन्तर्गत प्रगतिशील और अप्रगतिशील जैसे पूर्व-मान्य विभाजन की कल्पना करके उसके उस समग्र और एकात्म रूप को खंडित कर देने की चेष्टा की जिसका विकास पिछले दस-पन्द्रह वर्षों के भीतर, प्रयोग और प्रगति की प्रवृत्तियों के रचनात्मक स्तर पर घटित होने वाले संश्लेष द्वारा प्रकट हुआ है। मैं इस संश्लेष को नयी कविता की एक प्रमुख उपलब्धि मानता हूँ, क्योंकि इसके द्वारा दोनों की सत्ता अतिक्रमित हो जाता है और नयी कविता के निजी एवं व्यापक स्वरूप का सही परिचय भी मिल जाता है। लोगों का कहना है कि नयी कविता की धारा में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' दोनों अन्तर्भुक्त हो गये हैं। (सम्प्रति' जनवरी-फरवरी 63, पृ0 95) आगे इस प्रक्रिया को विकसित करना ही श्रेयकर है, विघटित करना नहीं। प्रयोगवाद को बीच से हटाया नहीं जा सकता, नवल जी का उद्देश्य भी इस आशय के संभवतः विपरीत नहीं है परन्तु 'प्रगतिवाद के आगे प्रगतिशील' कहने से और नव प्रगतिशीलता को इसी परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने से ऐसा प्रतिभाषित अवश्य होता है। उन्होंने अपने समर्थन में 'आजकल' के फरवरी अंक में प्रकाशित रणजीत के लेख 'नयी कविता का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण' का जो उद्धारण दिया है उसमें 'नई प्रगतिशील कविता' का प्रयोग है और उसे 'स्वस्थ कविता' का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण रूप माना गया है तथा 'प्रगतिवाद की कट्टरता से मुक्त और एक नई व्यापक और उदार सामाजिकता तथा मानवता की भावनाओं से युक्त' बताया गया है। स्पष्ट है कि 'नव प्रगतिशील कविता' 'नई प्रगतिशील कविता' का ही दूसरा संस्करण है जिसे पहले लक्षित किया जा चुका था। और यदि साहित्यिक सूत्रों को जोड़ा जाये तो यह भी प्रकट हो जायेगा कि वह रणजीत वही है जिन्हें 'रूपाम्बरा' के 'अधुनातन कविता अंक' में ही युयुत्सावादी कवि' के रूप में, अन्य दो कवियों के साथ स्वक्तव्य छापा गया है और जिन्होंने कविता को आधुनिकतावादी भूखे-नंगे की तरह 'शौचालय' मानने से इन्कार किया है।' वे चौंकने में विश्वास नहीं रखते हैं और 'संसार को अपने सपनों के अनुकूल बदलना' उनका उद्देश्य है। हो सकता है उनका कोई निजी यूटोपिया हो। थोड़ी मिट्टी हटाने से ही पता चल जाता है कि किस तरह 'नव प्रगतिवादी', 'नई प्रगतिशील' नव प्रगतिशील' और 'युयुत्सावादी' कविता सम्बन्धी विचारधारा आपस में गड्ड-मड्ड हो गयी है। यह नहीं कि उसमें कोई विचारात्मक या बलात्मक अन्तर ही नहीं है, वरन् यह कि वह अन्तर जहाँ उभरना चाहिए था वहाँ सीमित व्यक्तियों की अतिशय बहुमुखी प्रतिभा के कारण धुँधला पड़ गया है। जो कुछ थोड़ा बहुत स्पष्ट हो सका वह यह कि 'राजनीति के प्रति निष्ठा की माँग साहित्यकार के प्रतिबंधन (रेजिमेंटेशन)

की माँग है जिसका दृढ़ता से विरोध किया जाना चाहिए।' जहाँ तक मैं समझता हूँ 'नयी कविता' और 'परिमल' ने पिछले दो दशकों में मुख्यतया अब तक यही किया है।

- **'अगली कविता' और 'भावी कविता अर्थात् सहज कविता'**

जब 'नयी कविता' की सापेक्षता में 'व्यतीत कविता' की बात की जा चुकी है (द्र0 'विन्यास' मई, 1965, पृ0 17) तो स्वाभाविक ही है कि नये नाम की खोज, विलोमता के तर्क से, 'अगली कविता' और 'भावी कविता' की मृगमरीचिका में भटक जाये। 'मृगमरीचिका' इसलिये कि बढ़ते हुए पाँवों के साथ उसका आभास भी आगे बढ़ता जाता है और वह कभी हाथ नहीं आती। पर यह अन्तर्विरोध मात्र शब्दार्थगत है, वस्तुगत नहीं क्योंकि जो स्थापनाएँ की गयी है वे वर्तमान कविता से सम्बद्ध हैं और नयी कविता द्वारा निर्धारित मान्यताओं का ही पुनर्कथन हैं। जैसे 'रस' की अपेक्षा 'अनुभूति' और 'छंद' की अपेक्षा 'लय' तथा अनास्था के स्थान पर 'आस्था-बोध' आदि 'अगली कविता' यानी 'नव्यतर कविता की चौमासिकी' के प्रथम अंक (1965 में वल्लभ विद्यानगर गुजरात से प्रकाशित) की प्रतिक्रिया का एक वाक्य साक्षी है- 'अगली कविता पर लिखा हुआ स्वस्थ सम्पादकीय पढ़ कर लगा कि आज कविता में आस्था के स्वर को महत्व मिलने लगा है।' प्रतिक्रिया की कुछ न पूछिये। कुछ लोगों को 'अगली कविता' 'ugly' कविता' लगी और 'सौजन्य सम्पादक' को दूसरे अंक में लिखना पड़ा कि लोगों ने 'मूल आस्था के विपरीत' उसे ऐसा समझकर 'अपनी बुद्धि के दिवालियेपन तक की घोषणा कर दी है।' अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से निकलने वाले हैरत अंगेज़ 'सैद्धांतिक दस्तावेज' में छपी बड़ी-बड़ी हस्तियों के साथ केवल नामतः सामने आने वाली 'सहज कविता' को यदि ऐसे मखौल उड़ाने वाले लोग 'स+हज' समझ कर हज की भावना से सम्बद्ध कर दें तो उसके प्रर्वतक को भी पीड़ा होना स्वाभाविक है। अब कह ही दूँ, एक स्थानीय 'लघु मानव' ने बात ही बात में ऐसा क्लेशकर श्लेषार्थ लगा ही तो डाला था। मैंने उन्हें तुरन्त समझा दिया कि भाई ! मुझसे कहा तो कहा पर 'भावी कविता अर्थात सहज कविता' के परामर्श-सूत्री कोमल हृदय गीतकार के पास लिख कर प्रकाशनार्थ मत भेजना। यद्यपि उसकी दृष्टि में 'अब गीत की संभावनाएँ चुक गयी है और वह दिल्ली की चौथी बंध्या-संध्या में हुई गीत गोष्ठी में 'सहज-कविता' के नाम पर 'फ्लोरक्रास' करने की घोषणा कर चुका है, तथापि उसके साथ ऐसा करना उचित नहीं है। मुझे खुशी है कि उन्होंने मेरी बात आखिरकार मान ली। यह 'सहज कविता' के परामर्शसूत्री उद्भावक वही डॉ0 रवीन्द्र भ्रमर है जिन्होंने 'वातायन' के 'आज का गीत' नामक अंक में दो ही वर्ष पूर्व यानी सन् 1965 में एक आन्दोलन चालक की मुद्रा ग्रहण करते हुए लिखा था—

'भाई जान ! हमने, आपने और तमाम अच्छे लोगों ने कविता के पहले नये विशेषण लगाकर किसी लोभ, मोह या पूर्वग्रह का परिचय नहीं दिया था, प्रयोगवाद से अलग हटकर नयी कविता का आन्दोलन चलाने में हमारा एक निश्चित ध्येय था।' और यह भी कि 'नयी कविता और उसके सहज कलात्मक मुक्त शिल्प के प्रति मेरी बड़ी आस्था है।'

मार्च 1967 में 'सहज कविता' के पूर्वोक्त पत्रक में 'निषेध और विद्रोह' के स्थान पर स्वीकृति और संस्कार' को 'युग-मन' के स्वास्थ्य की चिन्ता करते हुए उसी ने निम्न बाते कहीं—

'सन्' 60 के बाद एक वर्ग में मैनरिज्म का क्राफ्टमैनशिप को ही मूल लक्ष्य माना और हिन्दी कविता कुल मिलाकर टेढ़ी रेखाओं के व्यापार के रूप में सामने आयी। इसीलिए वह फैशन रही है और बहुत अर्थपूर्ण भी नहीं। इस बीच जो नये-नये नाम अथवा नारे सामने कविता के क्षेत्र में उछाले गये उनके मूल में स्वस्थ-सृजन की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही जितना कि उन नारों को उछालने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को प्रचारित करने का कौतुक। कविता के इन तथाकथित सूत्रधारों ने या तो मरे हुए विदेशी आन्दोलनों का आयात किया है या फिर अनास्था और हीनतापूर्ण दलीलें पेश करके नयी पीढ़ी को गुमराह करने की साजिश की है। अहमन्यता, आत्महत्या, योनि और जंघाओं पर कविता लिखने की प्रेरणा दी है। अतएव आज कविता के नाम पर एक ओर तो कुण्ठाएँ और विकृतियाँ हैं और दूसरी ओर चमत्कार एवं अनुकरणमूलक प्रवृत्तियाँ, जिनके कुहासे में स्वस्थ कविता गुम है। सहज कविता नये सिरे से कविता की खोज करना चाहती है।.... 'सहज कविता' अकृत्रिम जीवन-बोध और अकृत्रिम कलारचना के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान स्थापित करना चाहता है।'

दो वर्ष में ही 'निश्चित ध्येय' बदल गया और पिछले पाँच वर्षों को भी अपने साथ यों ही बहाकर ले गयी। फिर जिस तरह और जिन नामों को जोड़ बटोर कर यह 'नारा' 'उछाला' गया है वह 'तथाकथित सूत्रधारों से परामर्श-सूत्रों को कहाँ, कैसे अलग करता है यह तो सोचना ही होगा। 'धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।' उर्दू उसके दो मित्रों की ओर से कही गयी यह बात कि 'हिन्दी वाले बहुरूपिया हैं, क्षण-क्षण में रूप परिर्वतन की कला इन्हें खूब आती है।' लगता है निकटतम अनुभव से कही गयी बात है।

'सहज कविता' 'अगली कविता' की ही तरह एक ओर 'कोई आन्दोलन नहीं है, वह मात्र आमन्त्रण है' दूसरी ओर वह 'भावी कविता की खोज' है 'भावी कविता अर्थात् सहज कविता'। अगर आप इस खोजामन्त्रण को स्वीकार नहीं करते तो आपकी 'आस्था' और 'ईमानदारी' खतरे में है। चलिए जल्दी कीजिए और सहज कवितावादी हो जाइए। पर जो लोग आपका स्वागत करने के लिए खड़े हैं, उनमें हैं वही श्री प्रभाकर माचवे, राजकमल चौधरी आदि-आदि और सबके ऊपर सुचारू रूप से

स्थित हैं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। शुद्ध कविता के लेखक दिनकर जी और रसवादी नगेन्द्र जी उनसे नीचे पड़ गये हैं। चतुराई एक ने ही दिखायी और वह है डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, 'कविता और कविता' के सम्पादक जिनका वाक्य है 'मेरे लिए कविता या तो कविता रही है या नहीं।' उन्होंने अन्य विशेषणों की तरह 'सहज' विशेषण को भी सहज ही टाल दिया और अपनी समझ से साफ बच निकले। माचवे जी तो पहले ही 'सहज' को प्रतिष्ठित करने वाली पीढ़ी के आने की भविष्यवाणी कर चुके थे अब उन्हें इधर मुड़ जाना चाहिए। मैंने भी 'सहज मनुष्य' की बात की है अतः अवश्य साथ दूँगा।

'अगली कविता' की बात इस 'सहज कविता' के चक्कर में पीछे ही छूट गयी। पर छूट गयी तो छूट गयी, अब उसे उठाने से भी क्या फ़ायदा। उसमें है भी क्या?

- **नयी कविता और नये नामों का दौर: कुछ निष्कर्ष**

कविता के पूर्वोक्त विविध नामों से सम्बद्ध विचारधारा की चर्चा करते हुए, कहीं सीधे और कहीं प्रकारान्तर से, मैं अपनी धारणा एवं प्रतिक्रिया, उससे सम्बद्ध अनेक प्रश्नों और समस्याओं के विषय में, काफी खुले ढंग से व्यक्त करता गया हूँ फिर भी निष्कर्ष रूप में जो बातें सामने आयी हैं उन पर जहाँ स्वतन्त्र रीति से दृष्टिपात् कर लेना आवश्यक है।

पहली चीज जिसकी ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है वह है वर्तमान के प्रति तीव्र और सक्रिय असंतोष। सक्रियता उतनी नहीं, जितनी तीव्रता; पर दोनों का, छोटे-मोटे प्रयत्नों तक ही सही, साथ अवश्य है। लघु-लघु पत्रिकाओं का प्राकट्य वह भी एक के बाद एक, कविता के समसामयिक संदर्भ में 'प्राण ! तुम लघु-लघु गात'पंक्ति का स्मरण दिलाता है। अपनी बात, वह चाहे जैसी और चाहे जिस स्तर की हो, कहने छापने और समर्थन पाने की उत्कट अभिलाषा व्यापक रूप से लगभग सारे हिन्दी क्षेत्र और उसके प्रभाव-वृत्त में जंगली आग की तरह फैली प्रतीत होती है, इसी के साथ उस जागरूकता की ओर भी दृष्टि जाती है जिसमें इतर भाषा-साहित्यों, देशी और विदेशी दोनों ही, में घटित होने वाले परिवर्तनों से निरंतर सम्पृक्ति बनाये रखने की भावना समाहित है। प्रभाव-ग्रहण के प्रति खुलेपन और उन्मुखता की ही नहीं आकुलता तक की मनःस्थिति, जो कहीं-कहीं काफी रोचक रूप धारण कर लेती है, उपेक्षणीय नहीं है। कुछ प्रवक्ता 'केवल राष्ट्रीय' होकर रह जाने के स्थान पर 'एकदम अन्तर्राष्ट्रीय' हो जाने को गौरवपूर्ण मानते हैं पर कई ऐसे भी हैं जो विदेशी चिंतन और कृतित्व की गुलामी से ऊपर उठने और ईमानदारी के साथ उससे मानसिकतया मुक्त होने की बात करते हैं। शीघ्र आधुनिक हो जाने की उतावली में कही गयी बहुत सी बातें कुछ-कुछ वैसा ही वात्सल्य-रस उपजाती है जैसा 'मैया मोरी कबहिं बढ़ैगी चोटी' से उपजता रहा है। गंभीरता तथा प्रौढ़ता का 'पोज' या उसका

अभिनय भी मिलता है और कभी-कभी सचमुच हड्डियों तक उतर जाने वाली गहरी दृढ़ता की झलक भी दिख जाती है, पर बहुत कम। एक साथ अनेक विचारधाराओं से सम्पर्क, वह भी उनके बीच की खाई को पाटे बिना या प्रकट विरोधी का शमन किये बगैर, अनेक व्यक्तियों के बहुमुखीपन ही नहीं बहुरूपियेपन को भी प्रमाणित करता है। अपने व्यक्तित्व एवं कृत्रित्व के प्रति अतिशय चिन्ता, यहाँ तक कि रचना के प्रतिष्ठित होने से पूर्व ही अपने को प्रतिष्ठित घोषित करने की चेष्टा या वैसा समझने की भूल, वह भी प्रतिष्ठितों और प्रतिष्ठा दोनों को गाली देते हुए, एक सामान्य लक्षण है जो अब किसी प्रकार लक्षण है जो अब किसी प्रकार अलक्षित नहीं रहा है, दूसरों को यों ही अपदस्थ, लान्छित और उपेक्षित कर आगे बढ़ने की युद्ध जैसी प्रवृत्ति भी कम नहीं दिखायी देती। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रायः सब एक दूसरे का निषेध करते दिखायी देते हैं। कुल मिलाकर अपने आप सबका निषेध हो जाता है। यह नहीं कि इसके बाद कोई बचता ही नहीं है पर जो बचता, वह बहुत कुछ वही है जिससे बचने की कोशिश में निषेध का प्रतिवादी मार्ग अपनाया गया। इस मनोवृत्ति की परिणति अन्ततः आत्म-निषेध के अतिरिक्त और किस चीज में हो सकती थी। काव्य के संदर्भ में यह वृत्ति कविता का ही निषेध करती दिखायी देती है क्योंकि अगर इस युग में वास्तव में कोई रूमानी काम है तो वह है कविता करना और अपने को कवि कहते-कहलाते जाना पर उससे विरत होता हुआ कोई दिखायी नहीं देता। तर्क और विवेक का विरोध ही नहीं निषेध भी किया गया है, जो रचना प्रक्रिया के संदर्भ में भले ही कोई मायने रखता हो पर वैचारिक धरातल पर निश्चित रूप से घातक लगता है। तर्क की असमर्थता को भी एक सीमा तक समझा भी जा सकता है पर विवेक को छोड़कर चलने की बात करने वालों के साथ कोई गति और सहमति संभव नहीं है। मानव संस्कृति का सारा विकास विवेक की ही दिशा में हुआ है और भारतीय मानस के लिए तो इसे छोड़कर चलना और भी अकल्पनीय है, क्योंकि यहाँ की सारी विचार-प्रक्रिया मूलतः सूक्ष्म विवेक पर ही आधारित रही है।

हिन्दी में अनेक छिटपुट कविता-आन्दोलन की असफलता, जो बावजूद बहुत तूमार बाँधने के भी अनिवार्य सिद्ध हुई, वातावरण में एक ऐसी दहशत बैठाई गयी कि आगे के प्रवर्तकों एवं प्रवक्ताओं ने पहले से ही, अपने बचाव के लिए कहना शुरू कर दिया कि हम कोई आन्दोलन नहीं चला रहे हैं, यद्यपि कसर कोई भी उठा नहीं रखी। अकविता से लेकर अगली कविता तक अनेक में 'एपॉलोजिटिक' होने की यह प्रवृत्ति चतुराई न होकर स्पष्टः आत्मबल और क्षीणता और संशयग्रस्तता का चिह्न बन कर सामने आयी है। इससे लगता है कि अब कविता के नव-नामी आन्दोलन चलाने की चेष्टा करने वालों को भी हकीकत और अपनी ताकत का थोड़ा बहुत सही अन्दाज लगाने लगा है।

जिस बात की डट कर आलोचना करना, उसी को अवसर पाकर स्वयं करना और कहे हुए को सुविधापूर्वक भूल जाना विडम्बना के उस रूप को व्यक्त करता है जो अनजान या विवशता में नहीं जानबूझ कर छुट्टा-छरीदापन में उपजता है। उससे उबरने का प्रयत्न कम लोगों ने किया अधिकतर 'इक भीजे, चहलैं परे, बूढ़े, बहे हजार' की ही गति हुई है। विचारों की असंगति, अनतर्विरोध और उनके उखड़े-उखड़े आस्थिर रूप से बहुधा बौद्धिक दिवालियापन प्रकट होता है और चिंतन की अधकचरी स्थिति का परिचय मिलता है। कोई समझदार व्यक्ति सहज ही देख सकता है कि कहाँ विचार नवीनता के वास्तविक उन्मेष को व्यक्त करते हैं और कहाँ वे मुखौटे एवं कवच के रूप में इस्तेमाल किये गये हैं। व्यक्तित्व में आन्तरिक परिर्वतन घटित हुए बिना अथवा अपेक्षित मनोनयन हुए बिना, सतही तौर पर की गयी स्थापनाएँ, निष्ठा के अभाव के कारण तथा इतर उद्देश्य की झलक आ जाने से भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पातीं और उन्हें गंभीर स्तर पर ग्रहण करने वाले लोग बहुत कम मिल पाते हैं। विचारों का पुंज आतिशबाजी की तरह छोड़ा जाता दिखायी देता है जो कुछ देर चकाचौंध पैदा करके अंधकार को और सघन बना देता है। कभी-कभी यह आतिशबाजी भी गीली और घटिया साबित होती है। अपने को सामने लाने के जैसे-जैसे प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं उन्हें देखकर पं0 माखनलाल चतुर्वेदी जी के द्वारा सुना हुआ यह श्लोक मुझे बार-बार स्मरण हो आता है—

घटं छिन्द्यात् पटं छिन्द्यात् कुर्याद् रासभ-रोहणम्।

येन केन प्रकारेण पुरूषो प्रसिद्धो भवेत्।।

जैसे-तैसे प्रसिद्धि पाने को आतुर व्यक्ति घड़ा तोड़ देता है, कपड़े फाड़ डालता है, गधे की सवारी करने लगता है, उससे सभी कुछ संभव है। लगता है यह उक्ति समसामयिक हिन्दी कविता के ऐसे मनोरम दृश्य को देखकर ही लिखी गयी हो।

भारत के लिए अँग्रेजों की गुलामी से उबरते-उबरते रूसी या अमरीकी वैज्ञानिक गुलामी में पड़ जाना कम भयावह नहीं है। मै नहीं मानता कि 'हमारा चिन्तन, हमारा परिवेश, इस तरह ग्रस्त है कि अमेरिकी गेहूँ खाकर और भारतीय वस्त्र पहन कर सोच भी क्या सकते हैं कि और 'कविता का टापलेस ब्लाउज का पाकेट' बनाना ही शेष रह गया है। भारतवर्ष 'रैट रेस' हो जायेगा ऐसा भी मैं नहीं समझता। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जिस देश ने अनेक राष्ट्रीय चिन्तकों के रूप में अपनी निजी विचार-शक्ति और संकल्प शक्ति को निरन्तर सक्रिय एवं सजीव रूप में व्यक्त किया है वह इन प्रभावों को भी झेल जायेगा और साहित्य के प्रति उसका जो गंभीर दायित्वपूर्ण एवं लोकोन्मुखी दृष्टिकोण रहा है वह बाहरी आघातों से विच्छिन्न एवं तिरोहित नहीं होगा। मानसिक दासता, चाहे वह किसी की भी हो और किसी भी मूल्य पर हो, हमें मंजूर नहीं है। रूस और चीन ने अपने सैद्धान्तिक

भेदों को जितने बड़े पैमाने पर राजनैतिक दाँव-पेच में गूँथ दिया है उसमें यह भी उचित नहीं है कि 'जनवाद' के नाम पर हम आँख मूँदकर इनमें से किसी देश देश के अनुयायी बन जायें और अपने को,असांस्कृतिक यात्राओं और पुरस्कारों के मूल्य पर बेचने लगें। भारतीय संस्कृति अगर कुछ भी है तो वह तत्वतः आत्मोपलब्धि, आत्मबल और आत्मपरिष्कार की संस्कृति है। आत्महत्या, आत्मविक्रय और आत्मवंचना के साथ उसका मेल कभी संभव नहीं है। यहाँ का साहित्य इस मूल दृष्टि के अभाव में नहीं, आविर्भाव में ही फलता-फूलता रहा है। कविता के क्षेत्र में दिखायी देने वाला बहुत सा कुहासा, बहुत सा वाग्जाल और बहुत सी छद्म प्रवृत्तियाँ, इस केन्द्रीय दृष्टि को अपनाने से दूर हो सकती हैं। बाहरी प्रभाव उस वृक्ष को उन्मूलित नहीं कर पाते जिसकी जड़े गहरी होती हैं और गहरी जड़ों वाला वृक्ष होना अपने में कोई अपराध नहीं है कि हम,

फैशन के रूप में आधुनिक होने के जोश में, अपनी व्याप्ति, समग्रता और निजत्व को नकार दें। जहाँ तक मैं समझा हूँ वास्तविक आधुनिकता मानवीय स्तर पर व्यापक परिवेश की समग्रता में निजत्व को पहचानने और सभी उपलब्ध एवं आविष्कृत साधनों से उसे विकसित, विस्तृत तथा समृद्ध करने में है। आधुनिकता का एक रूप परमुखापक्षी होकर इतने वैचित्र्य में जीने लगता है कि वह असामाजिक ही नहीं अमानवीय तक हो जाता है। रूढ़िबद्ध समाज में बहुत सी 'महत्वपूर्ण' बातें 'असामाजिक कह कर उपेक्षित की जाती है अतएव केवल सामाजिकता की दलील काफी नहीं है, उसे सामयिक संदर्भ में मानवीयता से जोड़ना अनिवार्य है। यह मानवीयता कोई दार्शनिक उलझाव नहीं है। सच्चे साहित्यकार इसे सबसे अधिक पहचानते आये हैं। मनुष्य के दुःख को सही रूप में पहचानता और उससे गहरी और वास्तविक सहानुभूति का अनुभव करना इसके स्वरूप-बोध के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है। जिस स्वचेतन मनोभूमि पर विदेशी प्रभावों को ग्रहण एंव आत्मसात् करने की बात कही गयी है उसी पर पूर्व परम्परा का भी आकलन करना होगा। उसे सर्वथा नकार देना असंभव है और छोड़ देने की बात करना अनुत्तरदायित्वपूर्ण। पर यह विवेक और युग-विशेष की दृष्टि का आग्रह रहता है कि वह अपने अनुरूप उसके स्वरूप की व्याख्या करके तथा उसके शक्तिमय प्रवाह से अपने को वांछित रीति से जोड़े उसके प्रति अंध-भक्ति व्यक्त न करे। यदि सारे पितर ऐसे ही हों कि उनसे मुक्ति पाना ही उचित हो तो वैसा करने में भी कोई हानि नहीं है पर उससे पूर्व पितरों के बारे में कुछ जान-समझ लेने की भी आवश्यकता होती है। 'हमें अपने पितरों तथा स्वयं हमारे अपकार्यों से युक्त करो' के मन्त्रार्थ को प्राप्त करने के लिए 'वयम-1' को जैसे ऋग्वेद तक जाना पड़ा। उस तरह तो न परम्परा से मुक्ति मिल सकती है न पितरों से क्योंकि समग्रतः वैदिक विचारधारा पितरों के प्रति असम्मान व्यक्त करने की विचारधारा नहीं है। साहसपूर्वक मतभेद व्यक्त करने और स्वतन्त्र बनाने के लिए भी विगत की

सापेक्षता आवश्यक होती है। पुराने के संदर्भ में ही नया, नया कहलाता है। संदर्भों को तोड़ना स्वयं अपने को तोड़ना है, क्योंकि 'स्व' का अर्थ भी संदर्भ से ही खुलता है।

यद्यपि दिनकर जी ने अपनी 'शुद्ध कविता' की भूमिका में लिखा है कि नयी कविता का प्रवर्तन पिछली शताब्दी में फ्रांस में हुआ था और वह योरोपीय आन्दोलन है तथापि हिन्दी की नयी कविता को मैं बहुत पीछे न ले जाकर निराला से सम्पृक्त करके देखना विशेष उपकारक एवं तथ्यपूर्ण समझता हूँ। उसकी तीनों मुख्य विशेषताएँ उस व्यक्तित्व से जुड़ी है जो किसी भी 'वाद' में पूरी तरह नहीं अँट पाया और जिसने अपने एक सुकेश सहयोगी की तरह केंचुल बदलते रहने और किसी भी अन्यायपूर्ण बात का तन कर विरोध करने से कतराने की नीति कभी नहीं अपनायी। वे तीनों मेरी नजर में इस प्रकार है—

1. **विद्रोह-वृत्ति से युक्त मानववादी जीवन-दृष्टि**
2. **स्वातन्त्र्य-कामना से उत्पन्न छंद-मुक्ति**
3. **जागरूक व्यक्ति-चेतना के साथ सामाजिक दायित्व**

'परिमल' की भूमिका में निराला ने लिखा था 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है।' अतः जब तक हम विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में इस बात को प्रत्यक्ष नहीं कर लेते, हिन्दी के संदर्भ में इसे विशेषतः चरितार्थ होते नहीं देखते तब तक कहना होगा कि नयी कविता का वास्तविक काम समाप्त नहीं हुआ है और जब तक काम समाप्त नहीं होगा तब तक नाम समाप्त होने का भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिन लोगों ने इस बड़े अभियान को छोटी-छोटी अनेक नामधारी टुकड़ियों में बाँट कर इसकी प्रगति को विश्रृंखलित करने का उपक्रम किया है, उन्होंने अपने ऐतिहासिक दायित्व का ठीक ढंग से संवहन नहीं किया है। यदि कविता का स्वरूप वास्तव में उतना विविधात्मक होता जितने कि नाम दिये गये हैं तो कोई आपत्ति की बात नहीं थी पर आज भी मुक्त-छंद ही अभिव्यक्ति का प्रमुख स्वरूप है तथा जो विभेद, उसमें आया है वह अभी न तो इतना प्रमुख हो सका है कि उसे एकदम अलग पहचाना जा सके, न उसके प्रति वैसी विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया ही हुई है जैसी कि मुक्त छंद के आने पर हुई थी और वह इतना प्रमुख हो सका है कि सारा काव्य-सृजन मुक्त-छंद के स्थान पर उसी में होने लगा हो। ऐसी दशा में वह गद्य के अतिशय निकट होना भी मुक्त-छंद के विमुख नहीं दिखायी देता। ठीक यही स्थिति भाषा के क्षेत्र में भी है। भाषा का प्रयोग बहुत सी नयी विधियों के साथ किया गया है और किया जा रहा है। जिसे 'नंगी भाषा' कहा जाता है वह कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नयी कविता में आरंभ से ही ऐसी अभिव्यक्ति मिलती है। रूमानी कहकर उसका निषेध नहीं किया जा सकता। केवल यौन विषयों और शब्दों तक सीमित

हो जाना, नंगी भाषा का प्रयोग नहीं नहीं है। सच तो यह है कि यौन शब्दावली को ही आधुनिकता का प्रतीक माननने वाले भी कोश के शब्दों का ही व्यवहार करते हैं, लोक में प्रचलित ठेठ शब्दों से वह भी कतराते हैं। यदि वे ताव में आकर वैसा करने भी लगें तो भी उससे कोई बात बनेगी नहीं, क्योंकि शब्दावली स्वयं में महत्वपूर्ण नहीं होती, वह अपनी प्रयोगान्वित और अनुभूति से संश्लिष्ट होकर ही महत्व पाती है। यदि कुछ शब्द इतने अलग दिखायी देने लगे कि पूरी रचना के स्थान पर ध्यान उन्हीं पर जाये तो सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से प्रयोक्ता की सफलता नहीं असफलता ही मानी जायेगी। आप उलट कर कह सकते हैं कि यह देखने वाले की विकृति है कि वह उन्हीं शब्दों को देखता है, उसे पूरी रचना ही देखनी चाहिए। बात सही है, पर चीज आरंभ कहाँ से हुई। विकृति तो मूलतः रचनाकार के ही दृष्टिकोण में आयी जिसके परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार के शब्द-समूह तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं को अधिक महत्व देकर उन्हीं के द्वारा अपनी विशिष्टता प्रकट की जाने लगी और वह भी मौलिक रीति से नहीं, अनुकृति के रूप में। तर्कों तक में नवीन उद्भावना का अभाव उसके आयातित एवं विकृति रूप को एकदम उद्घाटित कर देता है और निजी रूप को नकार कर दूसरे के बाने को अपनाने जैसा स्पष्टतः नाटकीय अथवा मानसिक दासता-सूचक दिखायी देता है।

मेरे विचार से 'नयी कविता' कहने से आज निम्नलिखित अर्थों का बोध होता है जो परस्पर सम्बद्ध हैं और जिनका महत्व-क्रम भी यही है—

- **वह कविता जो नये मूल्य-बोध से अनुप्रेरित हो, विशेषतः स्वातन्त्र्योत्तर या बीसवीं शती उत्तरार्ध के।**
- **वह कविता जो काव्य की, निरन्तर नवीन लगने वाली, उर्वर रचना-शक्ति एवं अनुभव के अलक्षित नूतन स्तरों से सम्बद्ध हो।**
- **वह कविता जिसमें पूववर्ती स्थिति के निषेध के साथ अभिव्यंजना की अपरिचित प्रणालियाँ, कथन की विचित्र एवं अप्रचलित भंगिमाएँ और अद्यतन प्रभावों को ग्रहण करने तथा नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति हो।**

आवश्यक नहीं है कि यह सभी अर्थ एक दूसरे के विरोध में ही देखे जायें या कि हों। जैसा कहा जा चुका है, यह असम्बद्ध न होकर वर्तमान हिन्दी कविता के व्यापक निर्माण क्षेत्र में एक दूसरे से सम्बद्ध दिखायी पड़ते हैं। इनमें आपस में कुछ व्यवधान हो सकता है पर इतना नहीं कि संघर्ष उपस्थित हो जाये, क्योंकि वह विघटन का सूचक होगा। मेरी दृष्टि में नयी कविता के स्वरूप में अभी परिवर्तन, के रूप में नाम-वैविध्य और थोड़ी अनेकरूपता ही सामने आयी है, आन्तरिक विघटन आरंभ नहीं हुआ है। आत्मलक्षी पत्र-पत्रिकाओं के प्रचारात्मक वक्तव्यों से ऐसा कोई भ्रम नहीं होना

चाहिए और न किसी विवेक सम्पन्न आलोचक का होगा ही। अपने को अलग दिखाना एक बात है और वस्तुतः अलग हो जाना दूसरी बात। बहुत सा अन्तर उपर्युक्त तीनों अर्थों के अनुपात भेद से पैदा हुआ है। प्रचलित रूपों में कुछ ऐसे हैं जिनमें नये मूल्य बोध पर विशेष बल है, कुछ में अनुभव के नूतन स्तरों और उर्वर रचना-शक्ति का महत्व अधिक माना गया है और अब कुछ ऐसे रूप सामने आ रहे हैं जिनमें पहले दोनों अर्थ प्रायः गौण होते जा रहे हैं और नाम-भेद तथा अभिव्यंजना प्रणाली के वैचित्र्य एवं विद्रुप-पक्ष को ज्यादा उभारा जा रहा है जिनके लेख का संदर्भ पीछे दिया जा चुका है उन अपने दार्शनिक मित्र संगमलाल पांडे की इस धारणा से मैं सहमत नहीं हूँ कि सच्ची नयी कविता वह होगी जो परिदृश्यात्मक हो, मानववादी न हो, ऐसी दशा में वह देश की वास्तविक प्रगति से भी सम्बद्ध नहीं रह सकेगी जिसे वे आवश्यक मानते हैं। यह कहना गलत होगा कि इस परिवर्तन से नयी कविता के विकास में बाधा ही पड़ी, लाभ कुछ नहीं हुआ। वस्तुतः यदि रूपक बाँधना गुस्ताखी न माना जाये तो कहूँगा कि जैसे वृक्ष का विकास कुछ दूर तक सीधे रूप में होना है फिर उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगती है और तिरछापन तथा अनेकत्व आने लगता है। सभी डालियों में नयी-नयी पंक्तियाँ आती है जो उसी वृक्ष की होती हैं। तेज हवा चलने पर डालियाँ आपस में टकराती भी हैं और कुछ टूट कर गिर भी जाती हैं तथा कुछ का विकास वृक्ष की विकास-दिशा के विपरीत भी लगता है। शाखाएँ भूल को नकारना चाहें तो नकार दें पर उन्हें वास्तविक विच्छेद की अवस्था में सूख जाने या कोई अन्य प्राण-स्त्रोत खोज लेने के लिए तैयार रहना होगा। जहाँ तक नाम-भेद का प्रश्न है, मेरी दृष्टि से वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। भला-बुरा जो भी नाम कालान्तर में व्यापक रूप से लोक-ग्राह्य हो जाये उसे अपनाने में संकोच नहीं होना चाहिए। कभी-कभी किसी बड़े वृक्ष पर कोई दूसरा वृक्ष भी उग आता है जिसे 'पैरासाइट' कहते हैं। यदि कोई इस रूप में ही स्थित हो या रहना चाहे तो भी जो हरेपन में सुख मानते होंगे, उन्हें आपत्ति नहीं होगी, मुझे तो नहीं ही है। नयी कविता अपनी अप्रतिहत प्राण-शक्ति से उसे भी पल्लवित पुष्पित करने में निजी सार्थकता ही समझती रही है और आगे भी समझती रहेगी। हाँ विषवृक्षों का पोषण वह अवश्य नहीं चाहेगी क्योंकि अभी उसने अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दी है और उन्हें निर्जीव बना देने की शक्ति भी उसमें है ही।

'पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता में कवि की स्थिति दुःखद है। पूर्वी देशों में कविकर्म जितना सहज और सामान्य माना जाता है, या कम से कम कुछ दिन पहले तक माना जाता था, पाश्चात्य देशों में उतना नहीं माना जाता। कवि वहाँ एक अजूबा होकर रह गया है। .... पाश्चात्य समाज कवि-कर्म को तुच्छ ठहराता है और मानता है कि कवि सिर्फ शब्दों से खेलता है। यह विचार 'आधुनिक समाज में कवि की पुनः प्रतिष्ठा आवश्यक' मानने वाली आस्ट्रेलियाई कवयित्री जूडिथ राइट के हैं। (द्र0 विशेष लेख, नया साहित्य, 1967, अंक 4, पृ02) और भी बहुत से लोग ऐसे हो सकते हैं जिनकी

दृष्टि में आज के समाज में कवि का 'अजूबा' बनते जाना वरेण्य नहीं होगा। भारतीय मानस ने कवि को भावशील और निर्बान्ध मानते हुए भी कभी उसे असामाजिक, मानसिक रोगी अथवा विकृत मस्तिष्क वाली प्राणी नहीं माना है और न अब वैसा मानने या बनने की अनिवार्यता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में यहाँ के नये कवि को अपनी सार्थकता निजी परिवेश से सम्पृक्त होकर स्वयं खोजनी होगी। अतिशय प्रभावोन्मुखता या फैशन-परस्ती इस सम्पृक्ति को या तो काट देती है या कम कर देती है और कविता न कविता रह जाती है, न नयी, और न अपनी। उसका साहित्यिक मूल्य भी अपने आप घट जाता है। नया कवि द्विवेदी-युग की तरह 'उचित उपदेशक का मर्मी नहीं बन सकता किन्तु वह ऐसा भी न हो जाये कि कविता सुनने के स्थान पर श्रोता या पाठक उसके मानसिक स्वास्थ्य की कामना करते हुए उसे उचित 'इलाज' करने का उपदेश देने लगें और वह नाराज हो होकर अपने रोग को स्वयं प्रमाणित करता जाये।

❖